सामान्य पाण्डुलिपिविज्ञान

लेखक
डॉ. महावीरप्रसाद शर्मा
पूर्व उपाचार्य
राजकीय महाविद्यालय, बाड़मेर

प्रकाशक
अपभ्रंश साहित्य अकादमी
जैनविद्या संस्थान
दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी
राजस्थान

- *प्रकाशक*

  अपभ्रंश साहित्य अकादमी
  जैनविद्या संस्थान
  दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीरजी
  श्री महावीरजी-322 220 (राज.)

- *प्राप्तिस्थान*
  1. **जैनविद्या संस्थान, श्री महावीरजी**
  2. **साहित्य विक्रय केन्द्र**
     दिगम्बर जैन नसियाँ भट्टारकजी
     सवाई रामसिंह रोड
     जयपुर-302 004

- प्रथम बार, 2003, प्रति 1,100

- मूल्य : 150/- रु.

मुद्रक :
जयपुर प्रिन्टर्स प्रा. लि.
एम. आई. रोड, जयपुर-302 001
फोन : 2373822, 2362468

आरम्भिक व प्रकाशकीय

डॉ. महावीरप्रसाद शर्मा द्वारा लिखित पुस्तक 'सामान्य पाण्डुलिपिविज्ञान' पाठकों के हाथों में समर्पित करते हुए हर्ष का अनुभव हो रहा है।

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीरजी द्वारा जयपुर में सन् 1988 में 'अपभ्रंश साहित्य अकादमी' की स्थापना की गई। देश की यह पहली अकादमी है जहाँ मुख्यत: पत्राचार के माध्यम से 'अपभ्रंश भाषा' व उसकी मूल 'प्राकृत भाषा' का अध्यापन किया जाता है।

यहाँ यह जानना आवश्यक है कि साहित्य एवं संस्कृति की सुरक्षा के लिए पाण्डुलिपियों के महत्त्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। हमारे पूर्व-पुरुषों का चिरसंचित ज्ञान-विज्ञान पाण्डुलिपियों में सुरक्षित है। 'अपभ्रंश साहित्य अकादमी' ने अपने उद्देश्य के अनुरूप 'सामान्य पाण्डुलिपिविज्ञान' नामक पुस्तक को प्रकाशित करने का निर्णय लेकर पाण्डुलिपियों के अध्ययन को सुगम बनाने का मार्ग प्रशस्त किया है।

'सामान्य पाण्डुलिपिविज्ञान' को विषय-प्रवेश सहित आठ अध्यायों में विभक्त किया गया है। विषय-प्रवेश में पाण्डुलिपिविज्ञान विषयक सामान्य जानकारी दी गई है। इसके बाद प्रथम अध्याय में 'पाण्डुलिपि-ग्रन्थ-रचना-प्रक्रिया', द्वितीय अध्याय में 'पाण्डुलिपि-प्राप्ति के प्रयत्न और क्षेत्रीय अनुसंधान', तृतीय अध्याय में 'पाण्डुलिपि के प्रकार', चतुर्थ अध्याय में 'लिपि-समस्या और समाधान', पंचम अध्याय में 'पाठालोचन', षष्ठ अध्याय में 'काल-निर्णय', सप्तम अध्याय में 'शब्द और अर्थ : एक समस्या' तथा अष्टम अध्याय में 'पाण्डुलिपि संरक्षण' विषयक सामग्री का समावेश किया गया है।''

डॉ. महावीरप्रसाद शर्मा ने अपनी 'सामान्य पाण्डुलिपिविज्ञान' पुस्तक अपभ्रंश साहित्य अकादमी को प्रकाशन के लिए सौंपी, इसके लिए अकादमी अपना आभार व्यक्त करती है। हमें सूचित करते हुए हर्ष है कि डॉ. शर्मा अपभ्रंश

साहित्य में अकादमी की डिप्लोमा परीक्षा उत्तीर्ण करने के पश्चात् कई वर्षों से श्री महावीरजी में लगनेवाली प्राकृत-अपभ्रंश की सम्पर्क कक्षाओं में पाण्डुलिपि-विज्ञान पढ़ाने का कार्य करने में संलग्न हैं। विद्यार्थियों व अन्य पाठकों के लिए यह सुगम पुस्तक लिखकर डॉ. शर्मा ने एक बहुत बड़े अभाव की पूर्ति की है। इसके लिए अकादमी डॉ. शर्मा की आभारी है।

'सामान्य पाण्डुलिपिविज्ञान' पुस्तक के प्रकाशन में सहयोगी अपभ्रंश साहित्य अकादमी के कार्यकर्त्ता एवं जयपुर प्रिन्टर्स प्राइवेट लिमिटेड, जयपुर धन्यवादार्ह हैं।

नरेशकुमार सेठी — अध्यक्ष

नरेन्द्र पाटनी — मंत्री

प्रबन्धकारिणी कमेटी

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीरजी

डॉ. कमलचन्द सोगाणी

संयोजक

जैनविद्या संस्थान समिति

तीर्थंकर महावीर जयन्ती

चैत्र शुक्ल 13, वीर निर्वाण सं. 2529

15.4.2003

आत्मनिवेदन

यों तो 'पाण्डुलिपिविज्ञान' के क्षेत्र में देश-विदेश के अनेक विश्वविद्यालयों में बहुत कुछ कार्य हुआ है; किन्तु हमारे देश में इस क्षेत्र में तुलनात्मक दृष्टि से कम कार्य हुआ है। हिन्दी-क्षेत्र में डॉ. सत्येन्द्र जी द्वारा लिखित 'पाण्डुलिपिविज्ञान' नामक कृति ही अधिकांश विद्यार्थियों की मार्गदर्शक रही है; किन्तु विद्वतापूर्ण इस कृति को सामान्य पाठक के लिए समझना अत्यन्त दुरूह है। यही समझकर हमने 'सामान्य पाण्डुलिपिविज्ञान' नामक इस कृति को आपके समक्ष प्रस्तुत करने का विनम्र प्रयास किया है।

वस्तुतः सन् 1965 ई. में जब मैं राज. विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग में प्राध्यापक था, तभी पूज्य गुरुवर डॉ. सत्येन्द्रजी के सन्निर्देशन में 'मेवाती का उद्भव और विकास' विषय पर पीएच.डी. उपाधि हेतु शोध-कार्य भी कर रहा था। इसी दौरान मैं अनेक प्रकार की पाण्डुलिपियों के सम्पर्क में भी आया। साथ ही स्व. डॉ. रामचन्द्र राय, प्राध्यापक, हिन्दी-विभाग, राज. विश्वविद्यालय, जयपुर के निर्देशन में मैंने राजस्थान के प्रस्तरलेख एवं शिलालेखों के पढ़ने का भी अभ्यास किया। इस सम्बन्ध में मेरा एक विस्तृत शोध-लेख 'डीडवाना में प्राप्त प्रस्तरलेख' नाम से शोध-पत्रिका, उदयपुर के जुलाई-सितम्बर, 1968 के अंक 3 में प्रकाशित हुआ। इसके बाद मैं राजकीय महाविद्यालय, डीडवाना से स्थानान्तरित होकर राजकीय महाविद्यालय, कोटपूतली (जयपुर) में आ गया। यहाँ आकर मैं तोरावाटी क्षेत्र में उपलब्ध पाण्डुलिपियों के सर्वेक्षण कार्य में लग गया। इस दौरान लगभग एक हजार पाण्डुलिपियों को देखा-परखा तथा उनमें से कुछ की खोज-रिपोर्ट परिषद पत्रिका, पटना; शोधपत्रिका, उदयपुर; सम्मेलन पत्रिका, प्रयाग; मरुभारती, पिलानी आदि पत्रिकाओं में प्रकाशित की। इस प्रक्रिया में कुछ पाण्डुलिपियों को पढ़ने-समझने हेतु मैं पूज्य गुरुवर डॉ. सत्येन्द्रजी, अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग, राज. विश्वविद्यालय, जयपुर से विचार-विमर्श करता रहा तथा उनके दिशा-निर्देश में अपना कार्य करता रहा और

'सदाचार प्रकाश' नामक एक पाण्डुलिपि का सन् 1972 में सम्पादन-प्रकाशन किया। इसके बाद सन् 1976 में मेरा 'मेवाती का उद्भव और विकास' शोध-प्रबन्ध प्रकाशित हुआ। सन् 1978 ई. में डॉ. सत्येन्द्रजी की प्रसिद्ध कृति 'पाण्डुलिपिविज्ञान' प्रकाशित हुई। इस दीपक के प्रकाश में मैं आगे बढ़ने लगा। सन् 1980 ई. में मेरी 'कोटपूतली उपखण्ड का इतिहास', 1982 ई. में 'तोरावाटी का इतिहास' नामक दो पुस्तकें प्रकाशित हुईं, जिनके लेखन के समय मैंने अनेक प्राचीन पट्टे-परवाने, ताम्रपत्र, प्रस्तर-लेखादि पढ़े। फिर सन् 1984 ई में वि.सं. 1855 में लिपिबद्ध 'श्रीराम परत्वम्' एवं सन् 2000 में 'सन्त लालदास एवं लालदासी सम्प्रदाय की वाणी' का सम्पादन किया। इसी बीच सन् 1994 ई. में मेरा सम्पर्क अपभ्रंश साहित्य अकादमी, जयपुर के निदेशक डॉ. कमलचन्द सौगानी से हुआ। उनकी प्रेरणा और प्रोत्साहन के परिणामस्वरूप मैंने अपभ्रंश साहित्य अकादमी, जयपुर से अपभ्रंश भाषा में सर्टीफिकेट और फिर डिप्लोमा परीक्षाएँ उत्तीर्ण कीं। अकादमी की प्राकृत-अपभ्रंश डिप्लोमा परीक्षा में 'पाण्डुलिपिविज्ञान : व्यावहारिक एवं सैद्धान्तिक' का एक प्रश्न-पत्र होता है। 'पाण्डुलिपिविज्ञान' में मेरी अभिरुचि को देखते हुए मुझे श्रीमहावीरजी में लगने वाली सम्पर्क कक्षाओं में 'पाण्डुलिपिविज्ञान' पढ़ाने का अवसर मिला। इस दौरान मैं छात्रों की समस्याओं को रेखांकित करता रहा। उन्हीं समस्याओं को ध्यान में रखकर मैंने 'सामान्य पाण्डुलिपि-विज्ञान' सहज, सरल एवं बोधगम्य शैली में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। आशा है, पाठकों को यह पुस्तक 'पाण्डुलिपि-विज्ञान' जैसे जटिल विषय को समझने में सहायक सिद्ध होगी।

'सामान्य पाण्डुलिपि-विज्ञान' को विषय-प्रवेश सहित आठ अध्यायों में विभक्त किया गया है। विषय-प्रवेश में पाण्डुलिपिविज्ञान विषयक सामान्य जानकारी दी गई है। इसके बाद प्रथम अध्याय में 'पाण्डुलिपि-ग्रन्थ-रचना-प्रक्रिया', द्वितीय अध्याय में 'पाण्डुलिपि-प्राप्ति के प्रयत्न और क्षेत्रीय अनुसंधान', तृतीय अध्याय में 'पाण्डुलिपि के प्रकार', चतुर्थ अध्याय में 'लिपि-समस्या और समाधान', पंचम् अध्याय में 'पाठालोचन', षष्ठ अध्याय में 'कालनिर्णय', सप्तम् अध्याय में 'शब्द और अर्थ : एक समस्या' तथा अष्टम् अध्याय में 'पाण्डुलिपि संरक्षण' विषयक सामग्री का समावेश किया गया है।

इस पुस्तक में प्रयुक्त सामग्री एवं संदर्भ ग्रन्थों के विद्वानों के प्रति मैं अपने हृदय के गहनातिगहन तल से आभारी हूँ। सच तो यह है कि इन प्रकाशस्तम्भों के सन्निर्देशन में ही मैं यह पुस्तक आपके समक्ष प्रस्तुत कर सका हूँ। मेरे इस प्रयास को साकार करने में डॉ. कमलचन्दजी सौगानी का वरद्हस्त रहा है। मेरा 'मैं' आपका हृदय से आभार व्यक्त करता है। इसके साथ ही श्री महावीरजी दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र के अध्यक्ष, सचिव एवं कार्यकारिणी का भी आभारी हूँ जिनकी सदाशयता के परिणामस्वरूप यह कृति आपके हाथों में है।

मैं सम्पर्क कक्षाओं के अपने सहयोगियों का एवं अकादमी में कार्यरत सहयोगियों का आभारी हूँ, जिनका सहयोग मुझे सदैव मिलता रहा है।

अन्त में, मैं अपने इस प्रयास में तनिक भी सफल रहा हूँ तो इसका श्रेय समस्त पाठकों को ही जाता है। साथ ही सुधी पाठकों से प्राप्त सुझावों का स्वागत करूँगा।

जय भारती

11 अक्टूबर, 2002
इन्दौरिया निकेत
छोटा बाजार, कोटपूतली (जयपुर)

डॉ. एम. पी. शर्मा

विवरणिका

सामान्य पाण्डुलिपिविज्ञान 1-22

1. विषय-प्रवेश, 2. पाण्डुलिपिविज्ञान : नामकरण की समस्या, 3. पाण्डुलिपि के भेद, 4. पाण्डुलिपिविज्ञान क्या है?, 5. पाण्डुलिपि वैज्ञानिक से अपेक्षाएँ, 6. पाण्डुलिपिविज्ञान के पक्ष, 7. पाण्डुलिपिविज्ञान की आवश्यकता, 8. पाण्डुलिपिविज्ञान का अन्य विज्ञानों से संबंध, 9. पाण्डुलिपि-पुस्तकालय (आगार), 10. आधुनिक पाण्डुलिपि पुस्तकालय।

अध्याय 1 23-69

पाण्डुलिपि-ग्रंथ : रचना-प्रक्रिया : 1. पाण्डुलिपि-ग्रंथ-रचना के पक्ष, 2. लेखक और लिपिकर्ता, 3. लेखक-लिपिकर्ता के गुण, 4. लिपिकर्ता का महत्व, 5. लिपिकार के प्रकार, 6. प्रतिलिपि में की गई विकृतियाँ और उनके परिणाम, 7. पाण्डुलिपि की भूलों के निराकरण का उद्देश्य, 8. प्रतिलिपि में विकृतियाँ : क्यों और कैसे?, 9. 'उद्देश्य' क्यों लिखा जाता है?, 10. 'उद्देश्य' के कारणों से होनेवाली पाठ-संबंधी विकृतियाँ, 11. लेखन-प्रक्रिया (लिपि), 12. लेखन-परम्पराएँ, 13. अन्य विशिष्ट परम्पराएँ, 14. शुभाशुभ, 15. स्याही, 16. स्याही बनाते समय की सावधानियाँ एवं निषेध, 17. अन्य प्रकार की स्याहियाँ, 18. चित्र-रचना और रंग, 19. चित्रलिखित पाण्डुलिपियों का महत्व, 20. काव्यकला और चित्रकला, 21. पाण्डुलिपि-रचना में प्रयुक्त अन्य उपकरण।

अध्याय 2 70-87

पाण्डुलिपि-प्राप्ति के प्रयत्न और क्षेत्रीय अनुसंधान : (अ) पुस्तकालय स्तर पर, (ब) निजी स्तर पर, 1. अनुसंधानकर्ता, 2. क्षेत्रीय अनुसंधानकर्ता के गुण, 3. क्षेत्रीय अनुसंधानकर्ता का करणीय, 4. प्राप्त पाण्डुलिपि का विवरण, 5. पाण्डुलिपि-विवरण-प्रस्तुतीकरण-प्रारूप, 6. पाण्डुलिपि-विवरण में अन्य अपेक्षित बातें, 7. ग्रंथ का आन्तरिक परिचय, 8. पाण्डुलिपि-विवरण (रिपोर्ट)

का प्रारूप, 9. लेखा-जोखा, 10. तुलनात्मक अध्ययन, 11. जाली या नकली हस्तलिखित ग्रंथ।

अध्याय 3 88-107

पाण्डुलिपि : प्रकार : पाण्डुलिपि, लिप्यासन के आधार पर पाण्डुलिपि : प्रकार, 1. कठोर लिप्यासन, 2. कोमल लिप्यासन, पाण्डुलिपियों के अन्य प्रकार, 1. आकार के आधार पर, 2. लेखन-शैली के आधार पर, 3. चित्र-सज्जा के आधार पर, 4. सामान्य स्याही से भिन्न स्याही में लिखित आधार पर, 5. अक्षरों के आकार-आधारित प्रकार, शिलालेखीय प्रकार, शिलालेखों की छाप लेने की विधि, छाप लेने की सामग्री।

अध्याय 4 108-139

पाण्डुलिपि की लिपि : समस्या और समाधान : 1. पाण्डुलिपिविज्ञान और लिपि, 2. लिपि का विकास-क्रम, 3. लिपि का इतिहास, 4. देवनागरी लिपि और पूर्ववर्ती लिपियाँ, 5. खरोष्ठी लिपि, 6. ब्राह्मीलिपि, 7. ब्राह्मी की उत्पत्ति, 8. ब्राह्मी भारतीय लिपि है, 9. ब्राह्मी वर्णमाला, 10. भारत में प्रचलित लिपियाँ, 11. देवनागरी लिपि : समस्याएँ, 12. विशिष्ट वर्ण चिह्न, 13. उदात्त-अनुदात्त ध्वनि-वर्ण।

अध्याय 5 140-154

पाठालोचन : 1. मूलपाठ, 2. लिपिक का सर्जन, 3. पाण्डुलिपि : वंश-वृक्ष, 4. मूलपाठेतर प्रतिलिपि और पाठालोचन, 5. पाठालोचन : शब्द-अर्थ का महत्व, 6. पाठालोचन की प्रणालियाँ, 7. पाठालोचन-प्रक्रिया, 8. मूलपाठ-प्रतियाँ, 9. मूलपाठ : तुलना, 10. तुलना के आधार, 11. बाह्य एवं अन्तरंग सम्भावनाएँ, 12. 'अर्थ-न्यास' का पाठालोचन में महत्व, 13. मूलपाठ-निर्माण।

155-178

अध्याय 6

काल-निर्णय : 1. काल-निर्णय, 2. काल-संकेत के प्रकार, 3. काल-निर्णय की समस्याएँ, 4. भारत में प्रचलित सन्-संवत्, 5. कालगणना में आनेवाली अड़चनें, 6. काल-संकेत रहित ग्रंथ के काल-निर्णय की पद्धति, 7. कवि-नाम निर्धारण की समस्या।

179-191

अध्याय 7

शब्द और अर्थ : एक समस्या : 1. शब्द समस्या, 2. पाण्डुलिपि में प्राप्त शब्द-भेद, 3. अर्थ-समस्या।

192-204

अध्याय 8

पाण्डुलिपि-संरक्षण : 1. आवश्यकता एवं महत्त्व, 2. आधुनिक युग के वैज्ञानिक प्रयत्न, 3. पाण्डुलिपियों के शत्रु, 4. पाण्डुलिपि की उचित देखभाल।

समर्पण

श्रद्धेय गुरुवर डॉ. सत्येन्द्रजी

को

सादर

महावीरप्रसाद शर्मा

सामान्य पाण्डुलिपिविज्ञान

॥ श्री गणेशायनमः ॥ श्रीगुरवे नमः ॥

सामान्य पाण्डुलिपिविज्ञान

1. विषय-प्रवेश

21वीं शताब्दी को कंप्यूटर की शताब्दी कहें तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। इस अत्याधुनिक वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में पीछे मुड़कर देखना अत्यधिक कठिन हो रहा है। हमारे पूर्व-पुरुषों का चिरसंचित ज्ञान-विज्ञान, जिन हस्तलिखित ग्रंथों, पाण्डुलिपियों में सुरक्षित है वह आज संकट की घड़ी से गुजर रहा है। इसके प्रत्यक्षतः दो कारण हैं - प्रथम, प्राचीन हस्तलिखित सामग्री के पढ़ने की समस्या और दूसरे, उसके अर्थ को समझने की कठिनाई। ये दोनों ही बातें दो तरह के विचारकों की अपेक्षा रखती हैं - प्रथम, पाण्डुलिपि या हस्तलेख के पाठक की तथा दूसरे, उस पाठ के अर्थ को समझने-समझानेवाले विद्वान् भाषाविद् की। कहने का अभिप्राय यह है कि आज आवश्यकता है प्राचीन सामग्री को, जो आज से हजारों वर्षों पूर्व चट्टानों, धातुपत्रों, ताड़पत्रों, चर्मपत्रों, कपड़ा एवं कागजों पर लिपिकृत है, उसे समझने वाले पाण्डुलिपि वैज्ञानिकों की और दूसरे, भाषा के प्राचीन स्वरूप एवं व्याकरण को समझनेवाले भाषा वैज्ञानिकों की। हमारा लक्ष्य यहाँ पाण्डुलिपि के विद्यार्थी के लिए कुछ सामान्य निर्देश देने का है, जो उसे इस क्षेत्र में आगे बढ़ने के लिए सहायक सिद्ध हो सके।

यों तो पाण्डुलिपिविज्ञान को लेकर देश-विदेश में अनेक विद्वानों के प्रयास चल रहे हैं, किन्तु इस सम्बन्ध में पश्चिम में अधिक कार्य हुआ है। हमारे देश में इस संदर्भ में सोचने-समझने वाले बहुत कम विद्वान ही हुए हैं, फिर भी जिन्होंने इस क्षेत्र में मार्गदर्शन करवाया है, उनमें डॉ. गौरीशंकर हीराचन्द ओझा के नाम को विस्मृत नहीं किया जा सकता। गुजरात में भी मुनि पुण्यविजय आदि अनेक जैन विद्वानों ने इस संबंध में बहुत कुछ लिखा है। हिन्दी में डॉ. माताप्रसाद गुप्त, पं. उदयशंकर शास्त्री, डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ. सत्येन्द्र, डॉ. हीरालाल माहेश्वरी आदि विद्वानों ने पिछले लगभग 2-3 दशकों में अत्यधिक प्रशंसनीय

कार्य किया है। इन सभी के कार्य को ध्यान में रखते हुए डॉ. सत्येन्द्र द्वारा सन् 1978 ई. में प्रस्तुत 'पाण्डुलिपिविज्ञान' ही आज विश्वविद्यालयी पाठक के लिए प्रकाश-स्तम्भ है।

2. पाण्डुलिपिविज्ञान : नामकरण की समस्या

वस्तुत: हजारों वर्ष पूर्व मनुष्य ने लेखन-कला का आविष्कार किया था। तब से वर्तमान तक मनुष्य द्वारा लिपिबद्ध सामग्री अनेक रूपों में प्राप्त होती रही है। सभ्यता और संस्कृति के विकास के साथ लेखन-कला का भी विकास हुआ है। प्रारंभ में वह गुफाओं, ईंटों, पत्थरों और शिलालेखों पर लिखता रहा। बाद में मोमपाटी, चमड़ा, ताड़पत्र, भोजपत्र, ताम्रपत्र तथा कपड़े आदि पर भी इस कला का विकास करता रहा। अत: यह लेखनीबद्ध या लिपिबद्ध सामग्री ही पाण्डुलिपिविज्ञान का विषय है। इतिहासकारों ने इस प्रकार की सामग्री का पुराभिलेख, शिलालेख, प्रस्तरलेख, ताम्रलेख आदि नामों से अपने-अपने इतिहास ग्रंथों में उल्लेख किया है; किन्तु जिस पाण्डुलिपिविज्ञान की हम चर्चा कर रहे हैं, उसका विषय पुस्तक-लेखन-कला से संबद्ध है। आंग्लभाषा में इसे 'मैन्युस्क्रिप्ट्स' कहा जाता है। इस प्रकार हस्तलेख, पाण्डुलिपि या मैन्युस्क्रिप्ट्स एक दूसरे के पर्यायवाची के रूप में प्रयुक्त होते रहे हैं।

'मैन्युस्क्रिप्ट्स' लैटिन भाषा का शब्द है, जिसका अर्थ 'हाथ की लिखाई' या लिखावट है। अर्थ-विस्तार की दृष्टि से जो सामग्री छपी हुई या टंकित नहीं है, वह सब मैन्युस्क्रिप्ट्स ही कहलाती है। कहने का अभिप्राय यह है कि छापाखाने की छपाई से पूर्व की वह समस्त सामग्री जो पेपीरस, पार्चमैण्ट (चमड़ा), धातु, पत्थर, मिट्टी, लकड़ी, कपड़े, वृक्षों की छाल, चमड़ा, भोजपत्र या कागज आदि पर लिखी गई हो, वह मैन्युस्क्रिप्ट्स ही कहलायेगी।

3. पाण्डुलिपि के भेद

विकास-क्रम से पाण्डुलिपि के निम्नलिखित भेद कहे जा सकते हैं -

(1) गुहालेख या भित्ति-चित्र : प्रारम्भ में सभ्यता के विकास-क्रम में मनुष्य अपनी आदिम-अवस्था में गुफाओं में रहता था। वहाँ रहते हुए उसने अपनी स्मृति को स्थायी रूप देने के लिए गुहालेख या भित्ति-चित्र अंकित किये।

इस प्रकार के संकेत 3 लाख वर्ष ई. पू. के मिलते हैं। इस कार्य के सम्पादन में उसने पत्थरों का उपयोग किया। अत: इस प्रकार के अभिलेखों को गुहा या शैलाश्रय अभिलेख कहते हैं।

(2) मृदा (Clay) अभिलेख : प्रस्तर-उपयोग के बाद मनुष्य ने धीरे-धीरे मृदा (मिट्टी) का उपयोग करना प्रारंभ किया। इसके प्रमाणस्वरूप अनेक पुरातात्विक महत्त्व की ईंटों पर अभिलेख प्राप्त हुए हैं।

(3) पेपीरस अभिलेख : मृदा-ईंटों के पश्चात् पेपीरस का प्रयोग प्रारंभ हुआ। पहले पेपीरस के खरड़ों (Rolls) पर ग्रंथ लिपिबद्ध किये जाते थे। ये पेपीरस के खरीते (Rolls) या कुण्डलियाँ बहुत लम्बे-लम्बे होते थे। इन लम्बे-लम्बे खरीतों की साज-सम्हाल करना कष्टप्रद एवं असुविधाजनक होने के कारण, इन्हें दुहरा-तिहरा कर पृष्ठ या पन्ने का रूप दिया जाने लगा होगा। परिणामत: बाद में पृष्ठ-लेखन का विकास हुआ।

(4) काष्ठ-पट्टी अभिलेख : धीरे-धीरे लिखने की प्रक्रिया का विकास हुआ। इसके लिए लिखने, मिटाने और फिर लिखने की सुविधा की दृष्टि से काष्ठपट्टी या लकड़ी की पाटी काम में ली जाती थी। पश्चिम में इसके स्थान पर मोम की पाटी का प्रयोग मिलता है। कभी-कभी इन मोमपाटी के आवरण पटलों का प्रयोग कुण्डलियों के पृष्ठों की रक्षार्थ जिल्द की तरह काम में लिया जाने लगा।

(5) चर्म-पत्र या पार्चमैण्ट : पहली शताब्दी से ही पुराभिलेख की अनेक सामग्रियाँ लिप्यासन के लिए पेपीरस की बजाय चर्म-पत्र पर लिपिबद्ध की जाने लगी थीं। इस प्रकार पार्चमैण्ट पर उपलब्ध सामग्री को लिपिविज्ञान में कोडैक्स (Codex) कहा जाता है। आजकल के जिल्द-बन्द बड़े-बड़े ग्रन्थों के पूर्वज ये कोडैक्स ही कहे जा सकते हैं, जो ईसा की चतुर्थ शती से विशेष रूप से प्रचलित थे।

इस प्रकार विकास-क्रम से पाण्डुलिपि के उपर्युक्त पाँच भेद किए जा सकते हैं।

4. पाण्डुलिपि विज्ञान क्या है?

विगत हजारों-लाखों वर्षों से मनुष्य गुहा-जीवन से आज तक संस्कृति एवं इतिहास का निर्माण करता हुआ निरन्तर आगे बढ़ रहा है। इसके प्रमाण प्राचीन काल के भवनों के खण्डहर, समाधियाँ, मन्दिर तथा अन्य वस्तुएँ, जैसे - मृदभाण्ड, मुद्राएँ, मृण्मूर्तियाँ, ईंटें, अस्त्र-शस्त्र आदि के द्वारा देखे जा सकते हैं। इनके अतिरिक्त शिलालेख, चट्टानलेख, ताम्रलेख एवं भित्तिचित्र भी उसकी प्रगति के सूचक कहे जा सकते हैं। ये ही वे अवशेष हैं, जिनके माध्यम से मनुष्य अपने इतिहास का ताना-बाना बुनता है। उदाहरणार्थ - अल्टामीरा की गुफाओं के वे चित्र, जिन्हें तत्कालीन मानव ने उकेरा था, उसे उसके तत्कालीन जीवन का साक्षात् इतिहास ही कहना चाहिए।

धीरे-धीरे इतिहास और संस्कृति के विकास-क्रम में आदिम मानव एक ऐसे बिन्दु पर आ टिकता है, जहाँ एक ओर वह चित्रों से 'लिपि' की ओर बढ़ता है और दूसरी ओर 'भाषा' का विकास करता है। इस प्रकार लिपि और भाषा के सहारे आदिकाल से आज तक मनुष्य अपने को ही प्रतिबिम्बित करता आ रहा है। ये सभी बातें - चित्र से लेखन कला तक पाण्डुलिपि के अन्तर्गत ही मानी जाती हैं।

'लेखन कला' में कई तत्व एक साथ काम करते हैं, जैसे - स्वयं लेखक (उसके अन्तर्जगत सहित), लेखनी, लेखन का आधार (कागज, स्याही) आदि हैं। इनमें से प्रत्येक का अपना महत्व है, इतिहास है। लेखक या लिपिक जब कोई रचना लिखते हैं, तो अनेक समस्याएँ भी उनके साथ उत्पन्न होती हैं। इन समस्याओं के समाधान का एकमात्र उपाय पाण्डुलिपि विज्ञान ही है।

एक पाण्डुलिपि को तैयार करने में अनेक पक्षों का सम्मिलित योगदान होता है। इसमें एक पक्ष लेखन और रचना-विषयक होता है, जो ग्रंथ-लेखन-कला का विषय है, दूसरा पक्ष लिपि है, जो 'लिपिविज्ञान' का विषय है, तीसरा भाषा-विषयक पक्ष है, जो भाषाविज्ञान का विषय है, चौथा उस ग्रंथ में की गई ज्ञान-विज्ञान की चर्चा का विषय है, जो काव्य शास्त्र या अन्य ज्ञान-विज्ञान से संबंधित हैं एवं ग्रंथ में चित्रित चित्र चित्रकला के विषय हैं। ग्रंथ-लेखन का आधार - चमड़ा, ईंट, छाल, कपड़ा, कागज आदि के अपने-अपने विषय हैं और अन्त

में स्याही और लेखनी का निर्माण भी अलग अध्ययन के विषय हैं। इन सबके सम्मिलित प्रयास से एक ग्रंथ तैयार होता है। फिर उस ग्रंथ की लिपियों और प्रतिलिपियों का सिलसिला शुरू होता है। उसका अपना महत्व है। इन सभी प्रतिलिपियों से मूलपाठ का सम्पादन करना पाठालोचन-विज्ञान का विषय है। कहने का अभिप्राय यह है कि एक पाण्डुलिपि में अनेक विषयों का सम्मिलित योगदान होता है, तभी वह पाण्डुलिपि कहलाती है। मूल लेखक द्वारा लिखित लेख भी पाण्डुलिपि कहलाता है तथा उसकी प्रतिलिपि भी पाण्डुलिपि कहलाती है।

5. पाण्डुलिपि वैज्ञानिक से अपेक्षाएँ

पाण्डुलिपिविज्ञान के द्वारा पाण्डुलिपि से संबंधित सभी प्रश्नों का प्रामाणिक समाधान प्रस्तुत किया जा सकता है। सामान्यत: जिन विषयों पर एक पाण्डुलिपि वैज्ञानिक से प्रश्न किये जा सकते हैं, उन्हें डॉ. सत्येन्द्र अपने 'पाण्डुलिपि विज्ञान' नामक ग्रंथ में इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं -

1. पाण्डुलिपि की खोज और प्रक्रिया (क्षेत्रीय अनुसंधान सहित)।
2. भौगोलिक एवं ऐतिहासिक प्रणाली से पाण्डुलिपियों के प्राप्ति-स्थान का निर्देश।
3. पाण्डुलिपि प्राप्ति स्थान संबंधी सम्पूर्ण जानकारी।
4. पाण्डुलिपियों के विविध पाठों के संकलन के क्षेत्रों का अनुमानित निर्देश।
5. पाण्डुलिपि के काल-निर्णय की विविध पद्धतियाँ।
6. पाण्डुलिपि के लिप्यासन, जैसे - कागज, स्याही, लेखनी आदि का पाण्डुलिपि के माध्यम से ज्ञान एवं काल-ज्ञान के अनुसंधान की पद्धति।
7. पाण्डुलिपि का लिपि-विज्ञान एवं ऐतिहासिक पृष्ठभूमि।
8. पाण्डुलिपि के विषय की दृष्टि से उसकी निरूपण शैली का स्वरूप।
9. पाण्डुलिपि के विविध प्रकारों का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य एवं भौगोलिक सीमा-निर्देश।
10. पाण्डुलिपि की प्रतिलिपियों के प्रसार का मार्ग एवं क्षेत्र।
11. पाण्डुलिपियों के माध्यम से लिपि के विकास का इतिहास।

12. लिपिकारों के व्यक्तित्व का परिचय।
13. लिपियों के वैशिष्ट्यों की ऐतिहासिक एवं भौगोलिक व्याख्या।
14. पाण्डुलिपियों की प्रामाणिकता की परीक्षा।
15. पाठालोचन प्रणाली।
16. पाठ-पुनर्निर्माण प्रणाली।
17. शब्द-रूप, अर्थ तथा पाठ।
18. पाण्डुलिपियों की सुरक्षा (रख-रखाव) की आधुनिक वैज्ञानिक पद्धतियाँ।
19. पाण्डुलिपि-संग्रहालय एवं उनके निर्माण का प्रकार।
20. पाण्डुलिपियों के उपयोग का विज्ञान।
21. पाण्डुलिपि और अलंकरण।
22. पाण्डुलिपि के चित्र।
23. पाण्डुलिपि की भाषा का निर्णय।
24. पाण्डुलिपि-लेखक, प्रतिलिपिकार, चित्रकार और सज्जाकार।
25. पाण्डुलिपि, प्रतिलिपि-लेखन-स्थान, प्राप्त सुविधाएँ तथा प्रतिलिपिकार की योग्यताएँ।
26. ग्रंथ-लेखन एवं प्रतिलिपि-लेखन के शुभ-अशुभ मुहूर्त।
27. पाण्डुलिपि के लिप्यांकन में हरताल-प्रयोग, काव्य-प्रयोग तथा संशोधन-परिवर्धन की पद्धतियाँ।

6. पाण्डुलिपि विज्ञान के पक्ष

सामान्यत: पाण्डुलिपि शब्द के अन्तर्गत सभी प्रकार की पाण्डुलिपियाँ समाहित होती हैं, जो अब तक लिखी गई हैं, लिखी जा रही हैं या लिखी जायेंगी। इसीलिए पाण्डुलिपि विज्ञान किसी विशेष पाण्डुलिपि का ही अध्ययन नहीं करता, अपितु सभी प्रकार की पाण्डुलिपियों का अध्ययन करता है, जिससे तत्संबंधी समस्याओं का समाधान निर्धारित किया जाता है। इस प्रकार पाण्डुलिपि विज्ञान के तीन पक्ष हैं - 1. लेखन, 2. पाण्डुलिपि का प्रस्तुतीकरण, 3. सम्प्रेषण।

लेखन से अभिप्राय है - ग्रंथ-रचना-प्रक्रिया, जिससे वह पाठक तक पहुँच सके। लेखन के द्वारा मानव-अभिव्यक्ति युग-युगों तक सुरक्षित रहती है। लेखक, अपने कथ्य को भाषा में लिपिबद्ध कर लेखनी से लिप्यासन पर अंकित कर, उसे पाण्डुलिपि का रूप प्रदान करते हुए पाठक तक पहुँचता है। इस प्रकार लेखक और पाठक के मध्य उठी समस्याओं के समाधान का एक महत्त्वपूर्ण साधन है - पाण्डुलिपि। इसी में पाण्डुलिपि विज्ञान की उपादेयता निहित है।

7. पाण्डुलिपिविज्ञान की आवश्यकता

'आवश्यकता आविष्कार की जननी है' - इस सिद्धान्त के द्वारा अब यह सिद्ध हो गया है कि देश भर में पुराने और नए अनेक हस्तलिपि भण्डार फैले हुए हैं, जिनकी पाण्डुलिपियों के वैज्ञानिक अध्ययन की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी है। जिस प्रकार भाषाविज्ञान, पाठालोचन, पेलियोग्राफी और ऐपीग्राफी के वैज्ञानिक विश्लेषण की आवश्यकता के कारण ही वे विज्ञान कहलाए, उसी प्रकार 'पाण्डुलिपि विज्ञान भी वह विज्ञान है जो अध्येता को, पाण्डुलिपि को पाण्डुलिपि के रूप में समझने एवं तद्विषयक समस्याओं के वैज्ञानिक निराकरण में सहायक सिद्ध होता है।'

8. पाण्डुलिपिविज्ञान का अन्य विज्ञानों से सम्बन्ध

पाण्डुलिपिविज्ञान को समझने के लिए अन्य कई सहायक विज्ञानों के समझने की भी आवश्यकता है। इस प्रकार के विज्ञान निम्नलिखित हैं :

1. डिप्लोमैटिक्स
2. पेलियोग्राफी
3. भाषाविज्ञान
4. ज्योतिष
5. पुरातत्व
6. काव्य-शास्त्र (साहित्य-शास्त्र)
7. पुस्तकालय विज्ञान
8. इतिहास
9. शोध-प्रक्रिया विज्ञान
10. पाठालोचन विज्ञान।

1. डिप्लोमैटिक्स : 'डिप्लोमैटिक्स' शब्द का निर्माण ग्रीक भाषा के 'डिप्लोमा' शब्द से हुआ है। डिप्लोमा शब्द का यूनानी (ग्रीक) भाषा में अर्थ होता है - 'मुड़ा हुआ कागज'। ऐसा कागज प्राय: सरकारी काम-काज में पत्रों, चार्टरों आदि को तैयार करने में काम आता था। धीरे-धीरे यह शब्द अर्थ-विस्तार पाकर पट्टे, परवाने, अनुज्ञा या डिग्री के कागज के अर्थ से जुड़ गया। इसी डिप्लोमा शब्द से बाद में डिप्लोमैटिक्स शब्द बना जो विज्ञान के रूप में ग्रहण कर लिया गया।

'डिप्लोमैटिक्स' के अन्तर्गत ऐतिहासिक पट्टे-परवाने (Documents), प्रमाणपत्र (Diploma), चारटर, बुलों के लेख आदि को उद्घाटित करना आता है। इस प्रकार इस विज्ञान का संबंध पेलियोग्राफी से भी है।

डॉ. सत्येन्द्र के अनुसार, ''डिप्लोमेटिक्स विज्ञान इतिहास के उन स्रोतों का आलोचनात्मक अध्ययन करता है, जिनका संबंध अभिलेखों (Archive Documents) से होता है। इन अभिलेखों में चारटर, मैनडेट डीड (सभी प्रकार के) जजमेण्ट (न्यायालयादेश) आदि सम्मिलित हैं। इन पट्टे-परवानों के लेख को समझना, उनकी प्रामाणिकता पर विचार करना, उनके जारी किये जाने की तिथियों का अन्वेषण और निर्धारण करना, साथ ही उनके निर्माण की प्रविधि को समझना तथा यह निर्धारित करना कि वे इन रूपों में किस उद्देश्य के लिए उपयोग में लाये जाते थे - इन सभी बातों को आज इस विज्ञान के क्षेत्र में माना जाता है।''[1]

2. पेलियोग्राफी : 'पेलियोग्राफी' वह विज्ञान है जो पेपीरस, पार्चमैण्ट, मोमपाटी, लकड़ी या कागज पर लिखे प्राचीन लेखन को पढ़ने का प्रयत्न करता है, तिथियों का आकलन एवं उनका विश्लेषण करता है। द एनसाइक्लोपीडिया अमेरिका, के ग्रन्थ 2, पृ. 163 पर लिखा है - "Palaeography, Seience of reading, dating and analyzing ancient writing on Papyrus, Parchment, Waxed Tablets, Postherds, Wood or Paper". इस विज्ञान को लिपि-विज्ञान भी कहते हैं। इस विज्ञान के द्वारा उन कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करने के उपाय बताना है जो किसी अज्ञात लिपि को पढ़ते समय

1. पाण्डुलिपि विज्ञान, पृ. 14-15

सामने आती हैं। इसी के द्वारा हम विश्व की समस्त लिपियों के स्वरूप से परिचित होते हैं।

व्यावहारिक दृष्टि से पेलियोग्राफी (लिपि-विज्ञान) के दो भेद हैं - (1) ऐपीग्राफी (Epigraphy) अर्थात् अभिलेख लिपि-विज्ञान, (2) पेलियोग्राफी (Palaeography) अर्थात् लिपि-विज्ञान। ऐपीग्राफी के द्वारा हम प्राचीन कठोर लिप्यासन पर लिखित अभिलेखों का अध्ययन करते हैं, जो शिलाओं, धातुओं तथा मिट्टी से बनी सामग्री पर खोदकर, काटकर या डालकर प्रस्तुत किये जाते हैं। इसके द्वारा अज्ञात लिपियों का उद्घाटन (Decipherment) तथा उनकी व्याख्या की जाती है।

पेलियोग्राफी के द्वारा हम कोमल लिप्यासन पर चित्रित लेखन को अध्ययन करने का प्रयत्न करते हैं; जैसे - कागज, चमड़ा, पेपीरस, लिनेन और मोमपट्ट (Postherds) पर अंकित किया गया है या उतारा गया है। यह क्रिया शलाका, कूँची, सेंटा या कलम के द्वारा की जाती है। इन दोनों विज्ञानों में मोटा अन्तर केवल लिप्यासन के कोमल या कठोर होने में ही निहित है।

3. भाषा-विज्ञान : भाषा-विज्ञान से तात्पर्य भाषा के विज्ञान से है। पाण्डुलिपि के विश्लेषण के बाद उसकी भाषा को समझना बहुत महत्वपूर्ण है। भाषा-विज्ञान के द्वारा लिपि का उद्घाटन करने में अत्यधिक सहायता मिलती है। पाण्डुलिपि की विषय-वस्तु का ज्ञान भाषा के बिना नहीं होता है। भाषा-विज्ञान के द्वारा सर्वथा अज्ञात लिपि एवं उसकी अज्ञात भाषा का अनुमान लगाया जा सकता है। यद्यपि ऐसी लिपि जिसके लिखने के ढंग और उसकी भाषा का पता न हो, उद्घाटित नहीं की जा सकती। हाँ एक उदाहरण अवश्य है, माइकेल बेंट्रिस ने क्रीट की लाइनियर बी का, जो क्रीट की एक भाषा थी, का उद्घाटन अवश्य किया था।

भाषा-विज्ञान के द्वारा ही पाण्डुलिपि में प्रयुक्त भाषा का ज्ञान किया जा सकता है। इसके द्वारा उस ग्रंथ की भाषा के व्याकरण, शब्दरूप, वाक्यविन्यास एवं शैली का ज्ञान भी होता है। भाषा-ज्ञान होने के उपरान्त हम पाण्डुलिपि के क्षेत्र का भी पता लगा सकते हैं। कई बार पाण्डुलिपि की भाषा भी भाषा-विज्ञान

की किसी समस्या का समाधान प्रस्तुत कर सकती है। इस प्रकार भाषा-विज्ञान और पाण्डुलिपि विज्ञान एक-दूसरे के सहायक कहे जा सकते हैं।

4. ज्योतिष : किसी भी पाण्डुलिपि के काल-निर्णय की समस्या का सटीक हल ज्योतिष के द्वारा ही हो सकता है। ज्योतिष के पंचांग, कलैण्डर, जंत्रियाँ आदि इस विषय में बहुत सहायक सिद्ध होते हैं। दिन, तिथि, संवत्, सन्, मुहूर्त, नक्षत्र, ग्रह, करण आदि का निदान ज्योतिष के द्वारा ही संभव है। पाण्डुलिपि विज्ञान एवं इतिहास के लिए ज्योतिष का ज्ञान परमावश्यक है। कहने का अभिप्राय यह है कि किसी प्राचीन लिपि के काल-निर्णय की जटिल से जटिल समस्या का निदान ज्योतिष के द्वारा संभव है।

5. पुरातत्व : पुरातत्व का विज्ञान वर्तमान सदी में अत्यधिक महत्वपूर्ण हो गया है। इसे अंग्रेजी में आर्क्योलोजी (Archaelogy) कहते हैं। इसके अध्ययन क्षेत्र में शिलालेख, चट्टानलेख, मुद्रालेख, ताम्रपत्रादि अनेक प्रकार की सामग्री आती है जिसका उपयोग पाण्डुलिपिविज्ञान भी करता है। पुरातत्व द्वारा उद्घाटित बहुत-सी प्राचीन सामग्री का उपयोग पाण्डुलिपि वैज्ञानिक को भी करना पड़ता है। ऐसे बहुत से प्राचीन महत्वपूर्ण हस्तलेख हमें पुरातत्व से ही प्राप्त हुए हैं। मिश्र के पेपीरस, सुमेरियन सभ्यता के ईंट-लेख, मोहनजोदड़ो की मुद्राएँ, अशोक के शिलालेख, अंगई खेड़े से प्राप्त ईंटों के ब्राह्मी लेख आदि पुरातत्व के द्वारा ही उद्घाटित हुए हैं। इस प्रकार पाण्डुलिपि विज्ञान और पुरातत्व एक-दूसरे के अत्यधिक सहायक हैं।

6. काव्यशास्त्र (साहित्यशास्त्र) : काव्यशास्त्र के चार अंग हैं - शब्दार्थ, रस, छंद एवं अलंकार। पाण्डुलिपि विज्ञान के अध्येता के लिए इन चारों का ही ज्ञान होना आवश्यक है। इनमें प्रथम शब्दार्थ है। भाषा-विज्ञान और लिपि-विज्ञान में शब्दार्थ का ज्ञान अत्यावश्यक है। काव्यशास्त्र में अर्थ तक पहुँचने के लिए शब्दशक्तियों का विशेष महत्व है। दूसरा रस है। यद्यपि पाण्डुलिपि विज्ञान में इसका स्थान गौण है फिर भी काव्य में नवरसों की प्रतिष्ठा है। इसलिए साहित्यिक पाण्डुलिपि के लिए 'रस' का ज्ञान आवश्यक है। तीसरा छन्द है। प्राचीनकाल में ग्रंथ-रचना पद्य में ही होती थी। पद्य रचना को पढ़ने के लिए छन्द-ज्ञान आवश्यक माना जाता था। चौथा अलंकार है। काव्यशास्त्र में तो इसका महत्व है ही, किन्तु

पाण्डुलिपियों में भी इसका इतस्त: प्रयोग मिलता है। कहने का अभिप्राय यह है कि पाण्डुलिपि विज्ञान में काव्यशास्त्र वहीं तक सहायक है जहाँ तक वह पाण्डुलिपि की विषय-वस्तु को समझने-समझाने में सहायक है।

7. पुस्तकालय विज्ञान : प्राचीनकाल में राजकीय या व्यक्तिगत पुस्तकालयों में पाण्डुलिपियों का ही भण्डारण होता था। नालंदा, तक्षशिला, अलेकजेण्ड्रिया आदि स्थानों पर प्रसिद्ध हस्तलिखित या पाण्डुलिपियों का अतुल भण्डार था। छापाखाने के प्रचलन के बाद भी पाण्डुलिपियों का रख-रखाव पुस्तकालयों में होता रहा है। आजकल 'आधुनिक हस्तलेखागारों' का एक नया आन्दोलन चला है। इन पुस्तकालयों में सरकारी, औद्योगिक, महान व्यक्तियों के किसी भी प्रकार के हस्तलेख, जैसे - पत्र, डायरी, विवरण, नत्थियाँ आदि सुरक्षित रखे जाते हैं। भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन से संबंधित व्यक्तियों की लिखित सामग्री ऐसे ग्रंथागारों में सुरक्षित रखी गई है, जो समय-समय पर शोधकर्ताओं को उपलब्ध करवाई जाती है। अत: पाण्डुलिपि विज्ञान की दृष्टि से पुस्तकालय विज्ञान का अत्यधिक महत्व है। बड़े-बड़े संग्रहालयों एवं अभिलेखागारों के लिए भी इस विज्ञान का महत्व स्वयंसिद्ध है।

अत: डॉ. सत्येन्द्र के शब्दों में कहा जा सकता है कि - ''हस्तलेखों और पाण्डुलिपियों को किस प्रकार व्यवस्थित किया जाए, कैसे उनकी पंजिकाएँ रखी जायें, कैसे उनकी सामान्य सुरक्षा का ध्यान रखा जाए, कैसे उन्हें पढ़ने के लिए दिया जाए आदि बातें वैज्ञानिक विधि से पुस्तकालय-विज्ञान ही बताता है।''[1] डॉ. रुथ बी. बोर्दिन एवं राबर्ट एम. वार्मर ने अपनी पुस्तक 'द मॉडर्न मैन्युस्क्रिप्ट लाइब्रेरी' में कहा है - ''मैन्युस्क्रिप्ट या पाण्डुलिपि पुस्तकालय का अस्तित्व ही अनुसंधाता और विद्यार्थी की सेवा करने के लिए होता है।''[2]

8. इतिहास : इतिहास की आवश्यकता प्राय: प्रत्येक ज्ञान-विज्ञान को होती है। इस दृष्टि से लिपि-विज्ञान का भी इतिहास से घनिष्ठ संबंध है; क्योंकि प्रत्येक पाण्डुलिपि की पृष्ठभूमि का ज्ञान प्राप्त करने के लिए इतिहास की आवश्यकता पड़ती है।

---

1. पाण्डुलिपि विज्ञान, पृ. 14
2. द मॉडर्न मैन्युस्क्रिप्ट लाइब्रेरी, पृ. 14

प्राय: पाण्डुलिपियों की पुष्पिकाओं में लेखक, लिपिकर्ता, जिस समय में लिप्यांकन किया गया है उस समय के शासक या जिस शासक अथवा राज्याश्रय में पाण्डुलिपि लिखी गई है उस शासक का नाम, समय आदि भी लिपिबद्ध किये जाते हैं। इन पुष्पिकाओं के द्वारा अनेक ऐतिहासिक भूलों का सुधार भी होता है। देशकाल के अनुसार लिप्यासन या कागज का भी एक इतिहास होता है। कहने का अभिप्राय यह है कि इतिहास की बहुत-सी सामग्री प्राचीन पाण्डुलिपियों से प्राप्त होती है। अत: इतिहास और पाण्डुलिपि विज्ञान का गहरा संबंध है।

9. शोध-प्रक्रिया-विज्ञान (Research Methodology) : वर्तमान काल में पाण्डुलिपियों को प्राप्त करने के लिए शोध-प्रक्रिया-विज्ञान का अत्यधिक महत्व है। शोधार्थी जब पाण्डुलिपियों की खोज में निकलता है तो उसे इस विज्ञान का सहारा लेना ही पड़ता है। बिना खोज किए पाण्डुलिपियाँ प्राप्त नहीं हो सकतीं। खोज-विज्ञान के द्वारा हमें पाण्डुलिपि खोज करने के सिद्धान्तों का ही ज्ञान नहीं होता, अपितु उससे हमें शोध-क्षेत्र में कार्य करने का व्यावहारिक ज्ञान भी प्राप्त होता है। पाण्डुलिपि भण्डारों, पुस्तकालयों के अतिरिक्त अनेक पाण्डुलिपियाँ इतस्त: बिखरी रहती हैं, जिन्हें प्राप्त करना, उनका विवरण तैयार करना, या अन्य प्रकार से उनका उद्‌घाटन करना अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य है।

पाण्डुलिपियों को प्राप्त करने के लिए दो प्रकार के प्रयत्न किये जा सकते हैं - (1) व्यक्तिगत, (2) संस्थागत।

(1) व्यक्तिगत : पाण्डुलिपि विज्ञान की दृष्टि से व्यक्तिगत प्रयत्न का बहुत महत्व है। इस प्रकार का प्रयत्न करने वाले अनेक विद्वानों - कर्नल टॉड, गौरीशंकर हीराचंद ओझा, टैसीटरी, डॉ. रघुवीर, राहुल सांस्कृत्यायन, मुनि जिनविजय, अगरचंद नाहटा, डॉ. हीरालाल माहेश्वरी आदि के नाम लिए जा सकते हैं। हमने भी इस दृष्टि से अनेक खोज-रिपोर्टें, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् की प्रमुख पत्रिका 'परिषद् पत्रिका' के माध्यम से प्रकाशित की हैं। इन व्यक्तिगत प्रयत्नों के फलस्वरूप अनेक शिलालेख, सिक्के, ताम्रपत्र, पाण्डुलिपियाँ आदि प्रकाश में आई हैं। इस दृष्टि से डॉ. टेसीटरी ने विशेष रूप से राजस्थानी साहित्य की खोज कर अनेक महत्त्वपूर्ण पाण्डुलिपियों की जानकारी दी। इसी प्रकार

डॉ. सांस्कृत्यायन एवं डॉ. रघुवीर ने भी अनेक कठिनाइयों एवं विपरीत परिस्थितियों के बावजूद तिब्बत और मंचूरिया से अनेक महत्वपूर्ण पाण्डुलिपियाँ प्राप्त की थीं।

(2) संस्थागत : पाण्डुलिपि-संग्रह के कार्य में अनेक संस्थाओं के प्रयत्न भी सराहनीय कहे जा सकते हैं। काशी नागरी प्रचारिणी की 1900 ई. से प्रकाशित खोज रिपोर्टों के द्वारा यह विदित होता है कि कितनी ही सामग्री अभी गाँव-गाँव और ढाणी-ढाणी में बस्ते-बुगचों में पड़ी अपने उद्धार का इंतजार कर रही है। अनेक संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी आदि के महत्वपूर्ण ग्रंथ, जिनका आज साहित्येतिहास में उल्लेख मिलता है, वे ऐसे ही संस्थागत प्रयत्नों के परिणामस्वरूप प्रकाश में आ पाए थे। अत: कहा जा सकता है कि हस्तलिखित ग्रंथों के संग्रह के साथ ही उनका विवरण भी पाण्डुलिपि विज्ञान के लिए अत्यधिक सहायक सिद्ध होता है।

उपर्युक्त दोनों ही प्रकार के प्रयत्न तब अधिक कारगर सिद्ध होते हैं; जब अनुसंधानकर्ता आधुनिक वैज्ञानिक शोध-क्षेत्रीय प्रक्रिया से भलिभाँति परिचित हो। आज भी अनेक जैन मन्दिरों, मठों तथा संग्रहालयों में इस प्रक्रिया से कार्य किया जाये तो अनेक महत्वपूर्ण पाण्डुलिपियों का उद्घाटन संभव है।

10. पाठालोचन विज्ञान (Text Criticism) : पाठालोचन विज्ञान भी पाण्डुलिपि विज्ञान के लिए सहायक विज्ञान कहा जा सकता है। प्रारम्भ में यह साहित्य के क्षेत्र में काव्य के मूल-पाठ तक पहुँचने का साधन रहा। बाद में भाषा-विज्ञान की एक प्रशाखा के रूप में पल्लवित हुआ, किन्तु वर्तमान में यह स्वतंत्र विज्ञान कहलाता है। वस्तुत: किसी रचना के देश-काल भेद से अनेक पाठों के उपलब्ध होने पर उनमें से मूलपाठ को खोज निकालने वाला विज्ञान ही पाठालोचन विज्ञान है।

पाठालोचन विज्ञान के द्वारा मूल पाण्डुलिपि से अन्य प्राप्त पाठों का मिलान करने पर पाठान्तरों और पाठभेदों में लिपि, वर्तनी एवं शब्दार्थ के रूपान्तर में होने वाली प्रक्रिया का पता चलता है। साथ ही मूल हस्तलेख के कागज, स्याही, पृष्ठांकन, चित्र, तिथिलेखन, हाशिया, आकार, हड़ताल आदि का प्रयोग आदि की बहुत-सी महत्वपूर्ण ऐतिहासिक जानकारियाँ प्राप्त हो सकती हैं।

पाठालोचन विज्ञान के द्वारा एक ही रचना की अनेक प्रतियाँ प्राप्त होने पर उनके तुलनात्मक अध्ययन के द्वारा मूलपाठ के समीप पहुँचने का प्रयास किया जाता है। प्राचीनकाल में मुद्रणालयों के अभाव में अनेक लिपिकों के द्वारा किसी ग्रंथ की प्रतिलिपियाँ करवाई जाती थीं, जिनमें प्रतिलिपिकार की अयोग्यता के कारण अनेक प्रकार की पाठ की अशुद्धियाँ हो जाया करती थीं। इसीलिए पाठालोचन विज्ञान के द्वारा उन सभी प्रतियों का अध्ययन कर मूलपाठ की खोज की जाती है। और इस प्रकार पाठालोचन विज्ञान पाण्डुलिपि के लिए अत्यधिक सहायक सिद्ध होता है।

9. पाण्डुलिपि-पुस्तकालय (आगार)

प्राचीनकाल में विश्व में जो कुछ ज्ञान-विज्ञान की प्रगति हुई थी, वह पाण्डुलिपियों के माध्यम से प्राचीन पुस्तकालयों, जिन्हें पाण्डुलिपि आगार भी कहते हैं, में सुरक्षित रखी जाती थीं। इन पाण्डुलिपि पुस्तकालय का इतिहास लगभग 3000 ई. पू. से प्रारम्भ होता है। मिश्र में प्राप्त पेपीरस के खरीते (Scrolls), जिन्हें वलयिताएँ कुण्डलियाँ या खरड़ा भी कहते हैं - ई.पू. 2500 से प्राप्त होते हैं। ये ही प्राचीनतम पाण्डुलिपि के रूप में कहे जाते हैं। इनके बाद मिट्टी की ईंटें (Clay Tablets), पार्चमैण्ट (चर्म पत्र), कागज, छाल, धातुपत्र, भोजपत्र, ताड़पत्रादि लिप्यासनों का प्रयोग मिलता है। डॉ. सत्येन्द्रजी ने अपने 'पाण्डुलिपि विज्ञान' नामक ग्रंथ में देश-विदेश के अनेक प्राचीन पुस्तकालयों की एक सूची परिशिष्ट में दी है।[1] उनमें से कुछ निम्न प्रकार हैं -

क्र.	वर्ष (लगभग)	स्थान	ग्रंथ	स्थापनकर्ता	लिप्यासन
1	2	3	4	5	6
1	2500 ई.पू.	गिजेह	—	—	पेपीरस
2	2300 ई.पू.	ऐब्ले (तैल्लमारडिख के पास)	ईंटों पर लेख	—	ईंट
3	1400 ई.पू.	अमर्ना	—	एमेहोटोप तृतीय	पेपीरस

1. पाण्डुलिपि विज्ञान, परिशिष्ट - एक, पृ. 362-373

क्र.	वर्ष (लगभग)	स्थान	ग्रंथ	स्थापनकर्ता	लिप्यासन
1	2	3	4	5	6
4	1250 ई.पू.	थीवीज	—	रेमेज	पेपीरस
5	600 ई.पू.	निन्हेवेह (असीरिया)	1000 ईंटें	असुरबेनीपाल	ईंटें (Clay Tablets)
6	600–500 ई.पू. के मध्य	उर, निप्पर, किसी, वेल्लो	— — —	— —	ईंटें
7	500 ई.पू.	एथेन्स (यूनान) अलेक्जेण्ड्रिया	— 5 लाख खरीते	पिजिस्ट्रेटस अलेक्जेंडर टालमी प्रथम	पेपीरस पेपीरस
8	324 ई.पू. से पूर्व	तक्षशिला	खरोष्ठी लिपि में लिखा स्वर्ण-पत्र	—	पाण्डुलिपियों का पुस्तकालय था, जो सिकन्दर के आक्रमण के समय नष्ट हो गया था।
9	246 ई.पू. से पूर्व	पाटलीपुत्र (पटना)	बौद्ध सिद्धान्त ग्रंथ	अजातशत्रु	—
10	237 ई.पू.	इदफिर (प्राचीन इदफुल होरेस के मन्दिर में)	—	—	पेपीरस
11	140 ई.पू.	काश्मीर, सरस्वती मंदिर काश्मीर	पतंजलि का व्याकरण ग्रंथ	—	—
12	80 ई.पू.	लंका	बौद्ध ग्रंथ लिपिबद्ध किये गये थे	—	—
13	—	लंका-हंगुरनकेत, बिहार	चाँदी के पत्रों पर विनयपिटक, अभिधम्म एवं दीर्घनिकाय गढ़वाए गये थे	—	चाँदी के पत्र

क्र.	वर्ष (लगभग)	स्थान	ग्रंथ	स्थापनकर्ता	लिप्यासन
1	2	3	4	5	6
14	—	पेइचिङ् (चीन)	8000 खरीते	—	—
15	41 ई.पू. से पर्गेमम पूर्व (दूसरी शती ई.पू. का पहला चरण)	—	200000 खरीते	सिकन्दर के उत्तराधिकारी	पेपीरस एवं पार्चमैण्ट (चर्मपत्र)
16	126 ई.	उज्जैन	पाण्डुलिपि आगार	अशोक, विक्रमादित्य, भर्तृहरि की कर्मस्थली	—
17	160 ई.	आडिबीसां (उड़ीसा)	बौद्ध ग्रंथ	नागार्जुन	—
18	160 ई.	धान्यकूट	बौद्धग्रंथ एवं बौद्ध विश्वविद्यालय एवं पुस्तकालय की स्थापना	नागार्जुन	—
19	222 ई.	मध्यभारत	'पाति मोक्ख' का अनुवाद	धर्मपाल	—
20	241 ई.	बू का राज्य	बौद्धग्रंथों का अनुवाद	संग हुरुई श्रमण	—
21	252 ई.	लोपांग (चीन)	बौद्ध ग्रंथों का अनुवाद	'तुनह्वाङ्' के श्रमण धर्मरक्ष	—
22	366 ई.	तुनह्वाङ् (मध्य एशिया)	30000 बलिताएँ	—	—
23	381 ई.	कुभा	चीनी में धर्म ग्रंथ का अनुवाद	श्रमण संघभूति	—
24	383 ई.	चंग-अन (चीन)	बौद्ध ग्रंथों का अनुवाद	गौतम संघ देव	—

क्र.	वर्ष (लगभग)	स्थान	ग्रंथ	स्थापनकर्ता	लिप्यासन
1	2	3	4	5	6
25	383 ई.	लिआंग-पाउ (चीन)	बौद्ध ग्रंथों का अनुवाद	कुमार जीव श्रमण	—
26	500 ई. से पूर्व	थानेश्वर विश्वविद्यालय	महाराज हर्ष एवं बाणभट्ट आदि के ग्रंथ	श्रीहर्ष	—
27	500 ई.	सेंट कैथराइन की सिनाई पर्वत स्थित मौनेस्ट्री	—	—	कोडेक्स (पार्चमैण्ट)
28	568 ई. से पूर्व	दुड्डा बौद्ध-विहार (वलभी)	बौद्ध ग्रंथ	—	कोडेक्स
29	600 ई. से	सेंट गेले (स्विट्जरलैण्ड)	—	—	कोडेक्स
30	630 ई. से पूर्व	नालंदा	बौद्ध-शिक्षा का केन्द्र	ह्वेनसांग के भारत आगमन के समय यह प्रसिद्ध विश्व-विद्यालय था	
31	800 ई.	एथोस पर्वत पर यूनान में	—	—	कोडेक्स
32	8वीं शती ई.	विक्रमशिला (विहार)	—	धर्मपाल	—
33	10वीं शती से पूर्व	सरस्वती महल (तंजौर)	—	—	—
34	1010 ई.	धार. भोज-भाण्डागार	—	भोज	—
35	11वीं शती से पूर्व	जैन भण्डार जैसलमेर	विपुल पाण्डु-लिपियों का ग्रंथागार है	—	—
36	1140 ई.	भोज भाण्डागार (अन्हिलवाड़ा)	—	सिद्धराज जयसिंह	

क्र.	वर्ष (लगभग)	स्थान	ग्रंथ	स्थापनकर्ता	लिप्यासन
1	2	3	4	5	6
37	1200 ई. के बाद	लौरेंजो डे मैडिसी का पुस्तकालय फ्लोरेंस, इटली	—	—	कोडेक्स पार्चमैण्ट
38	1242-1262 ई.	चालुक्य भाण्डागार अन्हिलवाड़ा	—	चालुक्य वीसलदेव	—
39	1367 ई.	बिब्लियोथीक नेशनल (नेशनल लाइब्रेरी) पेरिस, फ्रांस	—	—	कोडेक्स
40	1447 ई.	वेटिकन पुस्तकालय, वेटिकन सिटी	—	—	—
41	1520 ई. से कुछ पूर्व (आदिम युग)	तक्षकोको (प्राचीन मैक्सिको)	ह.लि. ग्रंथ संग्रह	हरनंदी कार्टेज स्पेन के ने दिसम्बर 1520 में विजय प्राप्त की	—
42	16वीं शती ई. का पूर्व	युकातान (प्राचीन मैक्सिको)	मय जाति की हजारों पाण्डु-लिपियों का भण्डार	—	—
43	1540 ई.	मलूकशाह का पुस्तकालय, बदायूँ	हेमू ने नष्ट किया	—	—
44	1556 ई. के लगभग	आगरा	30 हजार ग्रंथ शाही पोथीखाना	अकबर	—
45	—	साम्येविहार पुस्तकालय, तिब्बत	संस्कृत-तिब्बती भाषा के ग्रन्थों का भण्डार	पद सम्भव	—
46	1592 ई. के लगभग	आमेर-जयपुर पोथीखाना	10000 दुर्लभ ग्रंथों का संग्रह	राजा भारमल	—

क्र.	वर्ष (लगभग)	स्थान	ग्रंथ	स्थापनकर्ता	लिप्यासन
1	2	3	4	5	6
47	19वीं शती से पूर्व	अस्ताखान (रूस)	पाण्डुलिपि भण्डार	—	—
48	1871 ई. से पूर्व	बुखारा	?	—	—
49	—	खुत्तन, काशगर, दंदाउइलिक	ह.लि. ग्रंथ भण्डार	—	—
50	—	प्राच्य विद्या मंदिर, बड़ौदा	पाण्डुलिपि भण्डार	—	—
51	—	भारतीय संस्कृति विद्या मंदिर अहमदाबाद	पाण्डुलिपि भण्डार	—	—
52	1891 ई.	राष्ट्रीय अभिलेखागार, नई दिल्ली	पाण्डुलिपि भण्डार	—	—
53	1891 ई.	खुदा बक्स ओरियंटल, पुस्तकालय, पटना	12000 पाण्डु-लिपियाँ हैं अरबी फारसी के ग्रंथ भी	मुहम्मद बक्स	—
54	1904 ई.	भारती भण्डारागार या शास्त्र भण्डार	—	ह्यूलर	—
55	—	सिंधिया पुस्तका-लय, उज्जैन	10000 ग्रंथ	—	ताड़पत्र, भोजपत्र कागज
56	1912 ई.	भरतपुर, गोपाल नारायणसिंह निजी पुस्तकालय	4 हजार पाण्डुलिपियाँ	गोपालनारायण सिंह	ताड़पत्र, भोजपत्र देशी कागज
57	—	नेपाल, दरबार पुस्तकालय	448 पाण्डुलिपियाँ	नेपाल नरेश	ताड़पत्र
58	—	नेपाल युनिवर्सिटी पुस्तकालय	5000 पाण्डुलिपियाँ	—	ताड़पत्र
59	—	पूना, भण्डारकर रिसर्च इंस्टिट्यूट	—	—	—
60	1801 ई.	इण्डिया ऑफिस लाइब्रेरी, लंदन	2000 हस्तलिपियाँ	ब्रिटिश सरकार	ताड़पत्र, भोजपत्र, कागज

कुछ भारतीय पाण्डुलिपि-संग्रहालय

क्र.सं.	नाम	स्थापनाकाल	विवरण
1	मद्रास संग्रहालय	1851 ई.	ऐतिहासिक महल के 400 ताम्रपत्र
2	नागपुर संग्रहालय	1863 ई.	नागपुर के भौंसले राजवंश की पाण्डुलिपियाँ
3	लखनऊ संग्रहालय	1863 ई.	सचित्र एवं कुण्डली प्रकार की पाण्डुलिपियाँ
4	सूरत बिचेस्टर संग्रहालय	1890 ई.	जैन कल्पसूत्रों की पाण्डुलिपियाँ
5	अजमेर संग्रहालय	1909 ई.	पाण्डुलिपियों के साथ शिलांकित नाटक सुरक्षित है।
6	भारत कला भवन, वाराणसी	1920 ई.	रामचरितमानस की सचित्र प्रति
7	मध्य एशियाई संग्रहालय	1929 ई.	आरचेस्टीन द्वारा खोज कर लाई गई तुनहाड की 'सहस्रबुद्ध गुफा' से प्राप्त अनेक पाण्डुलिपियाँ एवं रेशमी पड़ आदि
8	आशुतोष संग्रहालय, कलकत्ता	1937 ई.	1105 ई. में लिपिबद्ध, कागज पर लिखित, नेपाल से प्राप्त पाण्डुलिपियाँ
9	गंगा स्वर्ण जयन्ती संग्रहालय, बीकानेर	1937 ई.	सचित्र दुर्लभ पाण्डुलिपियाँ
10	अलवर संग्रहालय	1940 ई.	7000 संस्कृत, फारसी, अरबी, हिन्दी की पाण्डुलिपियाँ तथा हाथीदाँत के लिप्यासन पर लिखित 'हफ्त वद काशी' पुस्तक
11	कोटा संग्रहालय	—	कुण्डली एवं मुष्टी प्रकार की अनेक पाण्डुलिपियाँ
12	प्रयाग संग्रहालय	—	सचित्र-मूल्यवान पाण्डुलिपियाँ
13	राष्ट्रीय संग्रहालय	—	सचित्र पाण्डुलिपियाँ
14	शिमला संग्रहालय	—	मुल्ला दाऊद कृत 'लोरचंदा' की पाण्डुलिपि का कुछ अंश उपलब्ध है
15	सालारजंग संग्रहालय हैदराबाद	—	18वें कक्ष में दुर्लभ पाण्डुलिपियाँ
16	कुतुबखाना-ए-सैयदिया टोंक	—	अरबी, फारसी, उर्दू की पाण्डुलिपियाँ

यद्यपि देशी-विदेशी पाण्डुलिपि संग्रहालयों की यह सूची पूर्ण नहीं है, फिर भी इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि पाण्डुलिपियों की सुरक्षार्थ बहुत प्राचीनकाल से ही पुस्तकालयों-ग्रंथागारों की स्थापना की जाती रही है। वर्तमान समय में हमारे देश के प्रत्येक प्रदेश में पाण्डुलिपि संग्रह की व्यवस्था राज्य सरकारों द्वारा की गई है। राजस्थान सरकार ने 'प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान' नाम से जोधपुर, जयपुर, बीकानेर, बूँदी, बाँसवाड़ा, सिरोही, सीकर, अलवर, अजमेर, कोटा, झालावाड़, उदयपुर, भरतपुर, टोंक आदि स्थानों पर अपने प्रतिष्ठान खोल रखे हैं। संस्थागत संग्रहालय भी अनेक हैं। श्रीमहावीरजी में दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र में एक 'पाण्डुलिपि संग्रहालय' स्थित है। बीकानेर, उदयपुर, जयपुर आदि स्थानों पर अनेक व्यक्तिगत पाण्डुलिपि पुस्तकालय भी देखे जा सकते हैं। राजस्थान में अनेक श्वेताम्बर हस्तलिखित 'ज्ञान-भण्डार' पाये जाते हैं।[1] अकेले बीकानेर में ही विविध ज्ञान-भण्डारों में एक लाख हस्तलिखित ग्रंथ संगृहीत हैं। इनमें कुछ संस्थाओं का नाम यहाँ लिया जा सकता है। श्री अभय जैन ग्रंथालय, अनूप संस्कृत लाइब्रेरी, गोविन्द पुस्तकालय, सेठिया जैन लाइब्रेरी, क्षमाकल्याणजी का ज्ञान भण्डार, हेमचन्द्रसूरि पुस्तकालय, कुशलचन्द गणि पुस्तकालय, पन्नीबाई के उपाश्रय का ज्ञान-भण्डार, छतिबाई उपासरा ज्ञान भण्डार, कोचरों के उपाश्रय का ज्ञान भण्डार, जेठीबाई ज्ञान-भण्डार आदि। बीकानेर के अतिरिक्त जोधपुर में 'राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, राजस्थानी शोध संस्थान, चौपासनी, महाराजा पुस्तक-प्रकाश आदि ज्ञान-भण्डार हैं। जयपुर में महाराजा की लाइब्रेरी, दिगम्बर जैन मन्दिरों के शास्त्र भण्डार, लाल भवन (चौड़ा रास्ता) का विनयचन्द्र जैन ज्ञान-भण्डार, खरतरगच्छ उपाश्रय का ज्ञान भण्डार आदि प्रमुख हैं। राजस्थान के ही सरदारशहर, चूरू, सुजानगढ़, रतनगढ़, बीदासर, लाडनूं, पाली, बालोतरा, बाड़मेर, ओसियां, फलौदी, मेड़ता, सिरोही, कोटा, जैसलमेर, फतेहपुर, किशनगढ़, आहोर, पीपाड़, अलवर, बूँदी, आवां, टोडारायसिंह, उदयपुर, बसवा, डूँगरपुर, करौली, नरायणा, खंडार, महावीरजी, अलीगढ़ (टोंक) आदि नगरों में अनेक पाण्डुलिपि संग्रहालय स्थित हैं।

1. परिषद् पत्रिका, वर्ष 18, अंक 3, अक्टूबर 1978, पृ. 128, श्री अगरचंद नाहटा का लेख - राजस्थान के श्वेताम्बर हस्तलिखित 'ज्ञान-भण्डार'।

अंत में, पाण्डुलिपि विज्ञान की दृष्टि से ये संग्रहालय-सूची शोधकर्ता को निश्चित रूप से सहायक सिद्ध होगी।

10. आधुनिक पाण्डुलिपि पुस्तकालय

आजकल प्राय: तीन प्रकार के संग्रहालय पाये जाते हैं। डॉ. आर.बी. बोर्डिन एवं डॉ. आर.एस. वारनर ने अपनी पुस्तक 'द माडर्न मैन्युस्क्रिप्ट लाइब्रेरी'[1] में इन तीन प्रकार के संग्रहालयों में अन्तर बताते हुए लिखा है -

(1) रक्षागार (Archives)

(2) अजायबघर (Museum)

(3) पाण्डुलिप्यागार या हस्तलिपि भण्डार

रक्षागार प्राय: राजकीय होते हैं। इनमें सरकारी कागज-पत्रों का संरक्षण-भण्डारण होता है। हमारे देश में 'राष्ट्रीय लेखा रक्षागार' (National Archives) इसी प्रकार का संग्रहालय है। राजस्थान में बीकानेर में राज्य सरकार का पुरालेख संग्रहालय है।

अजायबघर में दर्शनीय वस्तुओं या पाण्डुलिपियों का संग्रह किया जाता है। इन पाण्डुलिपियों में कलात्मक सौन्दर्य एवं वैशिष्ट्य दर्शनीय होता है। ये केवल देखने के लिए ही दर्शनार्थी को उपलब्ध रहती है।

लेकिन वस्तुत: पाण्डुलिप्यागार या हस्तलेखागार का मुख्य उद्देश्य अध्येताओं एवं शोधार्थियों के लिए उपयोगी होता है। इनमें ज्ञान-विज्ञान की अनेक महत्वपूर्ण पाण्डुलिपियाँ होती हैं जो शोधार्थी के लिए उपयोगी होती हैं।

इस प्रकार पाण्डुलिपि विज्ञान का महत्त्व स्वयंसिद्ध है। इसके ज्ञान से हम अपने पूर्वजों की अपार ज्ञानराशि से साक्षात्कार कर सकते हैं। इसी को रस्किन महोदय ने 'राजसी सम्पदाकोष' (Kings Treasuries) में प्रवेश पाना कहा है। ❑

---

1. द माडर्न मैन्युस्क्रिप्ट लाइब्रेरी, पृ. 1

अध्याय 1

पाण्डुलिपि-ग्रंथ : रचना-प्रक्रिया

मानव-सभ्यता के आदिकाल से रेखांकन से लिपि-विकास और लिपि-विकास से ग्रंथ-रचना प्रक्रिया तक के लेखन में आदिम आनुष्ठानिक धार्मिक भावना का ही प्राधान्य रहा है। भारत के वेद और मिश्र की 'मृतकों की पुस्तक' मानव-सभ्यता के प्राचीनतम ग्रंथ माने जाते हैं। वेद तो हजारों वर्षों तक गुरु-शिष्य परम्परा से मौखिक भी रहे; किन्तु मिश्र के खरीते, जो पेपीरस पर लिपिबद्ध होते थे, समाधियों में मृतक के साथ दफना दिये गये थे, ऐसे अनेक प्रमाण मिले हैं। इस प्रकार ये दोनों ही प्राचीन ग्रंथ मानव की धार्मिक एवं आनुष्ठानिक भावना से संबद्ध रहे हैं। इसी प्रकार अन्य देशों के प्राचीन ग्रंथों के संबंध में भी यही बात देखी जा सकती है। कहने का अभिप्राय यह है कि पाण्डुलिपि-रचना के समय शुभाशुभ की धारणा सदैव विद्यमान रही है। यही कारण है कि ग्रंथ-रचना से सम्बद्ध प्रत्येक साधन या माध्यम इस शुभाशुभ धारणा से युक्त रहा है।

1. पाण्डुलिपि-ग्रंथ-रचना के पक्ष

पाण्डुलिपि-ग्रंथ-रचना के तीन पक्ष प्रधान होते हैं -

1. लेखक, 2. भौतिक सामग्री, 3. लिपि और लिपिकर्ता।

1. **लेखक** : ग्रंथ-रचना-प्रक्रिया का सबसे महत्वपूर्ण पक्ष होता है - लेखक। 'लेखक' शब्द का प्रयोग प्राचीनकाल से लेखन-क्रिया के कर्ता के लिए होता आया है। रामायण, महाभारत एवं बौद्ध-साहित्य (पालि) के 'विनयपिटक', महावग्ग एवं जातकों में इस शब्द का प्रयोग अनेक बार हुआ है। इससे लगता है कि उस समय तक लेखन-कला प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुकी थी, जिसे लोग लेखक होना गौरव का विषय मानते थे। तब तक लेखक होना एक 'व्यवसाय' का रूप ले चुका था। उसे लेखन-व्यवसाय-विशेषज्ञ माना जाता था।

प्रारंभ में लेखक का कार्य मौखिक लोकवार्ता, जो 'अपौरूषेय' मानी जाती थी और वाक्विलास - 'मंत्र' - को लिपिबद्ध करना था। इस कार्य में लेखक व्यासजी की तरह एक सम्पादक मात्र माना जाता था। किन्तु; धीरे-धीरे इस शब्द का अर्थ 'मूल-ग्रंथ-रचना-कर्ता' माना जाने लगा। पाणिनिकालीन भारत में 'लेखक' को किन बातों का ध्यान रखना चाहिए, यह निश्चित हो चुका था। डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल के अनुसार मौलिक कृति के कृतिकार को 'तन्त्र युक्ति' अर्थात् संगत रूप-विधान का ध्यान रखना चाहिए। इसके लिए निम्नलिखित बातें ध्यान देने योग्य हैं -

1. अधिकार या संगति (अर्थात् आंतरिक व्यवस्था या विज्ञान)।
2. मंगल - मंगल कामना से प्रारंभ।
3. हेत्वर्थ - वर्ण्य विषय या आधार।
4. उपदेश - लेखक या कृतिकार के व्यक्तिगत निर्देश।
5. अपदेश - खण्डन-मण्डन के लिए दूसरों के मत का उदाहरण देना।

कभी-कभी लेखक एवं लिपिकर्ता एक ही होने से उनके मध्य लेखक के साथ पाठवक्ता या वाचक भी अपना स्थान रखता था।

2. भौतिक-सामग्री : ग्रंथ-रचना में दूसरा महत्वपूर्ण पक्ष है - भौतिक-सामग्री। मुनि श्री पुण्यविजयजी ने विक्रम की छठी शताब्दी में रचित 'राजप्रश्नीयोपांग सूत्र' के आधार पर अपने 'भारतीय जैन श्रमण संस्कृति अने लेखन कला' नामक ग्रंथ में भौतिक सामग्री के अन्तर्गत निम्नलिखित वस्तुओं को आवश्यक माना है :-

1. लिप्यासन - 'लिप्यासन' कई प्रकार के होते हैं। वह वस्तु जिस पर लिखा जाता है, उसे लिप्यासन कहते हैं - जैसे - पेपीरस, ईंट, शिला, पत्थर, ताड़पत्र, भोजपत्र, धातुपत्र, चर्मपत्र, कपड़ा, कागज आदि।
2. मसि - स्याही।
3. लेखनी - कूँची, कलम, टाँकी, कील आदि।
4. डोरा।
5. काष्ठ-पट्टिकाएँ (काम्बिका)

6. वेष्ठन - छंदजु (आच्छादन)

7. ग्रंथि - टिकुली या गाँठ - प्राय: ताड़पत्रादि की पाण्डुलिपियों में बीच में छेद कर डोरी पिरोई जाती है। इस डोरी के दोनों छोरों पर लकड़ी, हाथीदाँत, सीप या नारियल की गोल टिकुली में डोरी पिरोकर गाँठ दी जाती है। यह गाँठ ही टिकुली या ग्रंथि कहलाती है।

8. हरताल या हड़ताल - पाण्डुलिपि में हुए गलत लेखन या असावधानीपूर्ण हुए लेखन को मिटाने के लिए 'हड़ताल' या 'हरताल' का प्रयोग किया जाता है।

3. लिपि और लिपिकर्ता : यह पाण्डुलिपि-ग्रंथ-रचना-प्रक्रिया का तीसरा महत्वपूर्ण पक्ष है। कभी-कभी लेखक और लिपिकर्ता एक ही होते हैं। तब लिपिकर्ता या लिपिकार एवं लेखक पर्यायवाची माने जाते हैं; लेकिन दोनों को ही लिपि का पूर्ण ज्ञान एवं उसका अभ्यास अवश्य होना चाहिए। प्राचीन काल में ऐसे लेखक या लिपिकर्ताओं के लिए निर्देश-ग्रंथ भी लिखे मिलते हैं; जैसे - लेख पंचाशिका, क्षेमेन्द्र व्यास दास कृत लोक-प्रकाश, वत्सराज सुत हरिदास कृत लेखक मुक्तामणि एवं सन् 1418 में रचित महाकवि विद्यापति कृत 'लिखनावली' ऐसे ही निर्देश ग्रंथ हैं।

2. लेखक और लिपिकर्ता

'लेखक' शब्द का प्रयोग लिखनेवाले के अर्थ में प्राचीनकाल से व्यवहृत होता आया है। अनेक प्राचीन ग्रंथों में इसका उल्लेख हुआ है। सांची स्तूप के एक शिलालेख में 'लेखक' शब्द का प्राचीनतम उल्लेख प्राप्त होता है। यद्यपि यहाँ 'लेखक' शब्द से 'लेखन-व्यवसाय में लगे' व्यक्ति का ही अभिप्राय है; किन्तु डॉ. बूह्लर ने इस शिलालेख का अनुवाद करते समय इस शब्द का अर्थ 'कापीइस्ट ऑव मैन्युस्क्रिप्ट्स' (Copyist of Mss.) या राइटर, क्लर्क ही दिया है। वस्तुत: प्रारंभ में 'लेखक' शिलालेखों पर उत्कीर्ण किये जाने वाले प्रारूप तैयार करते थे। बाद में लेखक को पाण्डुलिपि तैयार करने का कार्य भी दिया जाने लगा था। लेखन-व्यवसाय में अधिकांशत: ब्राह्मण या कायस्थ वर्ग ही संलग्न रहता था। प्राचीन मन्दिरों या ग्रंथागारों में इन लेखकों की नियुक्ति ग्रंथ-लेखन हेतु की जाती थी। हमारे संग्रह में ऐसी अनेक पाण्डुलिपियाँ देखने में आई हैं, जिनका लिपिकर्ता या लिपिकार 'ब्राह्मण इन्द्रमणी' रहा है। वि.सं. 1855 के

आसपास की 'श्रीरामपरत्व ग्रंथ की टीका' (ब्रह्मदास कृत), रामोपासना आदि ग्रंथों के लिपिकर्ता ब्राह्मण इन्द्रमणि ही रहे हैं।[1]

भारतीय परम्परा में इस शब्द (लेखक) का प्रयोग चौथी शती ईसा पूर्व में मिलता है। इसके अन्य पर्यायवाची शब्द हैं - लिपिकार, लिबिकार या दिपिकार। अशोक के अभिलेखों में यह शब्द दो अर्थों में प्रयुक्त हुआ है - 1. लेखक, 2. शिलाओं पर लेख उत्कीर्ण करने वाला मनुष्य। अमरकोष में लेखक और लिपिकार को पर्यायवाची माना है। पाणिनि की अष्टाध्यायी के आधार पर डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल 'लिपि' का अर्थ 'लेखन' और 'लेख' बतलाते हैं। इस प्रकार पाणिनि ने ग्रंथ, लिपिकार, यवनानी लिपि आदि शब्दों का प्रयोग किया है। 'India as known to Panini' में डॉ. अग्रवाल विश्वासपूर्वक कहते हैं - "Thus it is certain that lipi in the time of Panini meant writing and script."[2]

3. लेखक-लिपिकर्ता (लिपिकार) के गुण

भारतीय प्राचीन पुराणों में लेखक के गुणों पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। मत्स्यपुराण, अध्याय 189 में कहा है -

सर्व देशाक्षराभिज्ञः सर्वशास्त्र विशारदः।
लेखकः कथितो राज्ञः सर्वाधिकरणेषु वै॥

इसी प्रकार 'गरुड़ पुराण' में कहा है -

मेधावी वाकपटुः प्राज्ञः सत्यवादी जितेन्द्रियः।
सर्वशास्त्र समालोकी ह्येष साधुः स लेखकः॥

उपर्युक्त श्लोकों में लेखक के दो महत्त्वपूर्ण गुणों का उल्लेख किया गया है - 'सर्वदेशाक्षराभिज्ञः' - अर्थात् समस्त देशों के अक्षरों (लिपि) का ज्ञान और साथ ही 'सर्वशास्त्र समालोकी' - अर्थात् समस्त शास्त्रों में लेखक की समान गति होनी चाहिए। एक पाण्डुलिपि वैज्ञानिक में ये गुण किसी न किसी मात्रा में होने ही चाहिए। "शार्ङ्गधर पद्धति' में भी यही बातें कही गई हैं। 'पत्रकौमुदी'

---

1. श्रीरामपरत्वम् : महात्मा ब्रह्मदास कृत, सम्पा. डॉ. महावीर प्रसाद शर्मा, कोटपूतली
2. India as known to Panini, Dr. V.S. Agarwal, Vol. II, Ch. 5, pp 311.

के अनुसार जहाँ एक ओर एक राज-लेखक में अनेक गुण होने चाहिए, वहीं उसका ब्राह्मण होना भी आवश्यक बताया है। इसका कारण उस समय की सामाजिक स्थिति में ब्राह्मण का कार्य पढ़ना-पढ़ाना माना गया है।

कहने का अभिप्राय यह है कि एक राज-लेखक (लिपिकार) को मंत्रणाभिज्ञ, राजनीतिविशारद, अनेक लिपियों का ज्ञाता, मेधावी, अनेक भाषाओं का जानकार, नीतिशास्त्र-विशारद, संधि-विग्रह के भेद को जाननेवाला, राज-काज में दक्ष, राजा का हितैषी, कार्य और अकार्य का विचार करने वाला, सत्यवादी, जितेन्द्रिय, धर्मज्ञ और राज-धर्म का ज्ञाता होना चाहिए। प्राचीन भारत में लेखक का स्थान राज-समाज में आदर्शपूर्ण माना जाता था। प्राचीनकाल में लेखक ही पाण्डुलिपि लेखक भी होता था, क्योंकि मुद्रण-कला के अभाव में लेखक जो कुछ लिखता था, वही मैन्युस्क्रिप्ट (पाण्डुलिपि) कहलाती थी। उस मूल पाण्डुलिपि की प्रतियाँ-प्रतिलिपि करवाकर मठ-मन्दिरों आदि में सुरक्षित रखी जाती थीं। आज हिन्दी में मूल रचनाकार को लेखक कहा जाता है, लेकिन विशेष अर्थ में लिखिया या लिपिकार, लिपिकर्ता भी कह सकते हैं।

4. लिपिकर्ता का महत्व

प्राचीनकाल से ही लिपिकर्ता (लिपिकार) के महत्व को विश्व में स्वीकार किया गया है। रोमन साम्राज्य के बाद वहाँ की ग्रंथ-सम्पदा को कुछ तो विद्वानों ने अपने अधिकार में ले लिया था और कुछ पादरियों (Monks) के हाथ पड़ गई थी। इस युग में प्रत्येक मोनेस्ट्री (धर्म-विहार) में एक स्क्रिप्टोरियम (पाण्डुलिपि-कक्ष) होता था। इस कक्ष में पादरी लोग प्राचीन ग्रंथों की पाण्डुलिपियाँ बड़ी सावधानीपूर्वक स्वयं तैयार करते थे। उनके प्रयास से पाण्डुलिपि-लेखन एक उच्चकोटि की कला मानी जाने लगी। उन पाण्डुलिपियों को अनेक प्रकार के चित्रों से सुसज्जित किया जाता था। आज भी जैन मन्दिरों एवं बौद्ध विहारों में इस प्रकार का प्रचलन वर्तमान है।

प्राचीनकाल में रोम में पाण्डुलिपियों के लिपिकार वे गुलाम होते थे, जिनकी लेखनकला सुन्दर होती थी, उन्हें मुक्त कर दिया जाता था। रोम में कुछ स्त्रियाँ भी व्यावसायिक लिपिकार होती थीं। वे लिपि-सुलेखन (कैलीग्राफी) की जानकार होती थीं। सन् 231 ई. में जब ओरिगेन ने बाइबिल के 'ओल्ड

टैस्टरामैण्ट' का सम्पादन-संशोधन प्रारम्भ किया तो संत अम्ब्रोज ने लिपि सुलेखन में विज्ञ कुछ कुशल अधिकारी एवं कुमारियाँ (Nuns) भेजी जाती थीं। प्राचीन धर्म विहारों (Monastery) में जहाँ ग्रंथ-लेखन कक्ष होता था, लिपिकर्ताओं की सहायतार्थ पाठ-वक्ता (Dictator) भी होते थे, जो ग्रंथ का पाठ बोल-बोल कर लिखाते थे। इसके बाद वह पाण्डुलिपि एक संशोधक के पास जाती थी, जो आवश्यक संशोधन कर उसे चित्रकार (मिनिएटर) के पास भेज देता था, जो उसमें आवश्यक चित्र-सज्जा कर सुन्दर बना देता था।

इसी प्रकार हमारे देश में भी प्राचीन धर्म-विहारों, मन्दिरों, सरस्वती एवं ज्ञान-भण्डारों में लेखकशालाओं का वर्णन मिलता है। मुनि पुण्यविजयजी कहते हैं कि 'कुमार पाल प्रबन्ध' में इन लेखकशालाओं का वर्णन मिलता है। ''एकदा प्रातर्गुरून सर्वसाधूंश्च वन्दित्वा लेखकशाला विलोकनाय गता:। लेखका: कागदपत्राणि लिखन्तो दृष्टा:।'' जैनधर्म में तो लेखन-कार्य को एक महत्वपूर्ण एवं पवित्र कार्य माना जाता है। जैन संतों-मुनियों द्वारा चातुर्मास में लिखी गई पुस्तकें इसी ओर संकेत करती हैं।

प्राचीनकाल में भारत में ग्रंथ-लेखन का कार्य पहले ब्राह्मणों के हाथ में ही था, किन्तु बाद में यह कार्य कायस्थों के हाथ में चला गया। इस प्रकार कायस्थ वर्ग व्यावसायिक लेखकों का ही वर्ग था, जो बाद में चलकर जातिगत हो गया। मुगलकाल में तो कायस्थ लेखक बहुत महत्वपूर्ण हो गया था। मौर्यकाल में राजकीय सचिवालय (Secretariate) को 'काय' कहा जाता था। उस 'काय' में स्थित व्यक्ति को कायस्थ कहते थे। कायस्थ-लेखक का लेखन कार्य बहुत सुन्दर माना जाता था। कायस्थ शब्द के अतिरिक्त लेखक के लिपिकार, दिपिकार या दिविर पर्यायवाचियों के साथ भारत में करण, कर्णिन्, शासतिन् तथा धर्मलेखिन पर्यायवाची भी प्रचलित थे। शिलालेखों पर लेख उत्कीर्ण करने वाले लेखक या लिपिकार को शिल्पी, रूपकार, सूत्रधार तथा शिलाकूट कहा जाता था।

5. लिपिकार के प्रकार

इस प्रकार पाण्डुलिपि विज्ञान की दृष्टि से लिपिकार का अत्यधिक महत्व है। उसके प्रयत्नों के परिणामस्वरूप ही हमें पाण्डुलिपियाँ प्राप्त होती हैं। ये

लिपिकार दश प्रकार के होते हैं। 'पाण्डुलिपिविज्ञान' के लेखक डॉ. सत्येन्द्रजी ने डॉ. हीरालाल माहेश्वरी के हवाले से लिपिकार के दस प्रकार बताए हैं, जो निम्नलिखित हैं[1] –

1. जैन श्रावक या मुनि।
2. साधु या आत्मानंदी।
3. गृहस्थ।
4. पढ़ानेवाला (कोई भी हो)।
5. कामदार (राजघराने का क्लर्क या लिपिक)।
6. दफ्तरी – अन्य कार्यों के साथ प्रतिलिपि भी करता था।
7. व्यक्ति विशेष के लिए लिखी गई पाण्डुलिपि का लिपिक।
8. अवसर विशेष के लिए लिखी गई प्रति का लिपिक।
9. ग्रंथ-संग्रह के लिए लिखी गई प्रति का लिपिक।
10. धर्म विशेष के लिए लिखी गई प्रति का लिपिक।

6. प्रतिलिपि में की गई विकृतियाँ और उनके परिणाम

किसी लिपिकर्ता के असुन्दर लेखन या अशुद्ध लेखन के द्वारा कभी-कभी बड़ी भयंकर भूलें हो जाया करती हैं। जो कुछ लिपिकर्ता ने लिखा उसे यदि पाठक सही ढंग से नहीं समझता है तो कई बार अर्थ के अनर्थ हो जाया करते हैं। मौर्य-शासनकाल में लेखक या लिपिकर्ता प्रशासकीय तंत्र का एक प्रमुख सदस्य हुआ करता था। वह आजकल के पी.ए. या स्टेनों की तरह का व्यक्ति था। सातवीं सदी के एक आदेश-लेख (निर्माण्ड ताम्रपत्र अभिलेख) के अनुसार लेखक राजा के निजी सचिवों में सम्मिलित था और उसके अधिकार और कर्तव्य भी बढ़े हुए थे। राज-काज से आने-जाने वाले पत्रों का पढ़ना और व्याख्या कर अर्थ बताना उसका कार्य था। इस कार्य में जरासी असावधानी से, चाहे लेखक से हुई हो या पाठक से, बहुत बड़ी गड़बड़ हो जाती है। हरिषेण ने अपने कथाकोष की 24वीं कहानी में लिखा है कि एक लेखक महारानी और मंत्रियों के साथ राजभवन में रहता था। उसकी उपस्थिति में महाराजा के जो पत्र आते

1. पाण्डुलिपिविज्ञान : डॉ. सत्येन्द्र, पृ. 25

उन्हें पढ़कर लेखक उनका अभिप्राय बताता था। एक बार एक राजा ने किसी उपाध्याय के बारे में पत्र लिखा था कि उसे सुगंधित उबले चावल, घी तथा मषी (दाल) भोजन में दी जाये। लेखक ने पत्र पढ़ते समय 'मषी' का अर्थ काली स्याही लिया। अर्थात् कोयले की काली स्याही घी में घोलकर चावल के साथ खाने को दी जाये। इस प्रकार अर्थ का अनर्थ हो गया। लेखक या लिपिक के असावधानीपूर्ण लेख का एक उदाहरण और देखें। एक बार एक सेठ के मुनीम ने उनके घर पर लिख कर भेजा कि - "आज सेठजी अजमेर गये हैं, बड़ी बही को लेते आना।" इस पंक्ति के पाठक ने इसे यों पढ़ा - "आज सेठजी मर गए हैं; बड़ी बहू को लेते आना।" आपने देखा कि अजमेर गये को 'आज मर गये' एवं 'बही' को 'बहू' पढ़ने से क्या से क्या हो गया?

7. पाण्डुलिपि की भूलों के निराकरण का उद्देश्य

किसी पाण्डुलिपि में प्राप्त लिपिगत विकृतियों का संबंध लिपिकर्ता से ही होता है। अतः पाण्डुलिपि वैज्ञानिक को पाण्डुलिपि सम्पादन करते समय उन सभी संभव-भूलों का निराकरण करना आवश्यक होता है। इन भूलों का निराकरण मुख्यतया मूल प्रति के 'उद्देश्य' से किया जाता है। पाठालोचन विज्ञान में इन पाठ-संबंधी भूलों या समस्याओं का निराकरण करना होता है।

8. प्रतिलिपि में विकृतियाँ : क्यों और कैसे?

डॉ. सत्येन्द्र के अनुसार किसी पाण्डुलिपि में लिपिगत विकृतियाँ लिपिकर्ता द्वारा निम्न प्रकार से की जाती हैं[1] :

(क) जानबूझकर (या सचेष्ट)

(ख) अनजाने में (या निस्चेष्ट)

(ग) उभयात्मक

इस प्रकार की विकृतियाँ निम्न कारणों से की जाती हैं -

(अ) मूलपाठ में कुछ वृद्धि करने के लिए।

(आ) मूलपाठ में कुछ कमी दर्शाने के लिए।

(इ) मूलपाठ के स्थान पर स्वैच्छिक पाठ रखने के लिए।

1. पाण्डुलिपिविज्ञान, पृ. 26

(ई) मूलपाठ के क्रम-परिवर्तन हेतु।

(उ) मूलपाठ में मिश्रपाठ की प्रति का अंश स्वेच्छा से ग्रहण करने हेतु।

(ऊ) मिश्र पाठ की प्रति का किसी एक परम्परा की प्रति से स्वेच्छा से मिलान करते हुए।

ऐसा करने के लिए कोई न कोई कारण या भूल होती है, जो निम्न में से एक हो सकती है :

(क) लिपिभ्रम अथवा लिपिसाम्य के कारण।

(ख) वर्णसाम्य के कारण।

(ग) शब्दसाम्य के कारण।

(घ) लिपिकर्ता द्वारा लिखित संकेत-चिह्नों की नासमझी के कारण।

(ङ) किसी शब्द का ठीक-ठीक अन्वय नहीं कर सकने के कारण।

(च) शब्द या पंक्ति की पुनरावृत्ति के कारण।

(छ) अपनी स्मृति के द्वारा लिखने के कारण।

(ज) वाचक से सुनकर लिखने के कारण (समान ध्वनि होने के कारण)।

(झ) हाँशिये में लिखित पाठ को प्रतिलिपि करते हुए सम्मिलित कर लेने के कारण।

यदि लिपिकर्ता या वक्ता किसी क्षेत्र विशेष का हुआ और दूसरा किसी दूसरे क्षेत्र का, तो लेखन में विकृति होने की सम्भावना बनी रहती है।

प्राचीन पाण्डुलिपियों के पढ़ते या प्रतिलिपि करते समय अनजाने में या ठीक से नहीं पढ़ पाने के कारण लिपिकर्ता द्वारा अनेक विकृतियों या अशुद्धियों का समावेश हो जाता है। इस दृष्टि से भारत में, विशेष रूप से गुजरात और राजस्थान के पाण्डुलिपि भण्डारों में 15वीं से 20वीं शताब्दी तक की नागरीलिपि में लिखित पाण्डुलिपियों का अध्ययन करते हुए श्री लक्ष्मणभाई हीरालाल भोजक ने जो अशुद्धियाँ पाईं, उन्हें 'प्राकृत साहित्य स्तवक : द्वितीय भाग' में प्रस्तुत करते हुए कहा है कि -

प्राचीन पाण्डुलिपियों एवं आधुनिक मुद्रण में प्रयुक्त 'नागरीलिपि' की वर्णमाला में जो परिवर्तन हुए हैं, उन्हें आगे दर्शाए गये दो चार्टों में समझाने का यत्न किया है। प्रथम चार्ट में तीन खाने हैं - जिनमें प्रथम खाने में स्वर, अनुस्वार और विसर्ग दिए गए हैं। इनमें पहला वर्ण या अक्षर आधुनिक मुद्रण में प्रयुक्त होने वाला है और उसके सामने 15वीं से 20वीं शताब्दी के मध्य लिखित पाण्डुलिपियों में प्रयुक्त अक्षर हैं।

दूसरे चार्ट में पहले ध्V (धा) दिया गया है। यद्यपि शिरोरेखा के बिना कोई भी अक्षर होता है तो वह निकाला हुआ माना जाता है, पर इसमें ध (ध) केवल अपवाद है। शिरोरेखा के बिना ध में आ की मात्रा ध्V इस तरह तिरछी रेखा के द्वारा जोड़ी जाती थी और जब ध की शिरोरेखा बननी शुरू हुई तब ध्V इस तरह हो जाने पर पहली तिरछी रेखा भी प्रयुक्त होती रही।

अक्षरों में ह्रस्व इ की मात्रा जोड़ने की तीन विधियाँ हैं - कि कि कि। दीर्घ ई की मात्रा की इस विधि से जोड़ी जाती है। रेफ के साथ दीर्घ ई की मात्रा 'कीं' जोड़ते समय र्की इस प्रकार लिखा जाता है। 'क' में ह्रस्व 'उ' की मात्रा तीन प्रकार से जोड़ी जाती है - कु कु कु। दंडवाले अक्षरों में यह मात्रा ख, ग, इस विधि से भी जोड़ी जाती है। कितने ही अक्षरों में ह्रस्व तथा दीर्घ 'उ' 'ऊ' की मात्रा जोड़ते समय उनके रूप बदल गए हैं। उदाहरणस्वरूप 'तु' = तु, 'तू' = तू, 'दु' = दु, 'दू' = दू, 'शु' = शु, 'शू' = शू, 'हु' = हु, 'हू' = हू आदि। दीर्घ 'ऊ' की मात्रा इस विधि से भी जोड़ी जाती है - 'कू' = कू, 'सू' = सू, 'वू' = वू।

'ऋ', 'ॠ' की मात्रा जोड़ते समय 'त' इस रीति से लिखा जाता है - 'तृ' = तृ, 'तॄ' तॄ।

'ए' की मात्रा अक्षर के पहले लिखी जाती है और यह 'पृष्ठ मात्रा' या 'पडिमात्रा' कहलाती है - 'के' = (क। उसी प्रकार से 'कै' = (के, 'को' = (का, कौ = (को लिखा जाता है। अक्षर के पहले दो मात्राएँ कभी भी नहीं लिखी जाती हैं। एक पहले और एक ऊपर इस तरह से लिखी जाती हैं - कै = (के।

अक्षर में अनुस्वार 'कं' = क॰ इस विधि से भी लिखा जाता है। विसर्ग के दो बिन्दुओं के स्थान पर खड़ी पंक्ति की तरह दो टुकड़े भी किए गए मिलते हैं - 'कः' = क ;।

संयुक्ताक्षर - इसके बाद क्रम से निम्नानुसार संयुक्ताक्षर लिखे गए हैं। एक ही वर्ग के अक्षरों के जोड़ने का जो बदला हुआ स्वरूप है, वह लिखा गया है। तीसरे खाने में 'ल' और 'व' को ऊपर नीचे जोड़ना, 'त' के साथ संयुक्ताक्षर, 'यकार' और 'रकार' जोड़ना, 'ल' और 'व' के साथ संयुक्त होनेवाले अक्षर, तीन वर्णों के संयुक्त होने पर परिवर्तन को प्राप्त प्रयोग, जैसे कि 'क्ष', 'ष्ण', 'स्थ', ॐ, ह्रीं, श्रीं आदि का प्राचीन रूप बताया गया है। इसके बाद पुस्तकों के प्रारंभ में आने वाला 'भले मींडु' (मंगल का प्रतीक चिह्न) = ॥ए८०॥ और अंत में पूर्णता का सूचक 'छ' = छ है।

1. कोई शब्द दो बार लिखना हो तो शब्द के बाद दो का अंक (2) लिखने में आता है। 'बार बार' लिखना हो तो = वार 2 इस विधि से लिखा जाता है।

2. लेखक की भूल से रह गई आ की मात्रा, ह्रस्व इ और दीर्घ ई की मात्रा क्रमशः इस प्रकार बनायी जाती है, 'वा' = र्व , पति = प्ति, भीम = भीम।

3. यदि अक्षर आगे-पीछे लिखा गया हो तो अक्षर के ऊपर क्रम से पढ़ने के लिए अंक बनाया जाता है - कमल = क मल।

4. अक्षर या पाठ यदि भूल से नहीं लिखा गया हो तो ∧ ⋎ ∨ इनमें से कोई भी एक चिह्न बनाकर, बाहर मार्जिन में वह अक्षर या पाठ लिखा जाता है। बहुधा उस पाठ को लिखने के बाद ओ० ४ (ओली ४) या पं. ४ (चौथी पंक्ति) लिखा जाता है। यदि ऊपर वाली मार्जिन में ओली ४ या पंक्ति ४ लिखा हो तो ऊपर से पंक्ति की गिनती करनी चाहिए। यदि नीचे की मार्जिन में हो तो पंक्ति को नीचे की तरफ से गिनना चाहिए।

5. छूटा हुआ पाठ × इस प्रकार का चिह्न बनाकर नीचे की पंक्ति में भी लिखा जाता है और उस पाठ के दोनों तरफ ×----------× इस प्रकार का चिह्न होता है।

6. अक्षर निकालने (delete करने) की विधि -

1. अक्षर के ऊपर कं कँ इस प्रकार का चिह्न बनाया जाता है।
2. अक्षर शिरोरेखा से रहित छोड़ दिया जाता है - काल्प्म।
3. अक्षर के ऊपर हरताल (पीला रंग) या सफेदा लगा देते हैं।

7. अधिक अक्षर या पाठ निकालना (delete करना) हो तो उन अक्षरों/पाठ के आदि और अंत में इस प्रकार तेपंकालेणं का चिह्न बनाया जाता है।

8. पंक्ति के अंत में यदि थोड़ी जगह बच गयी हो तो वहाँ पर ऽ इस प्रकार के दंड का चिह्न बनाते हैं। उसको निकाला हुआ (delete किया हुआ) ही समझना चाहिए। फुदड़ी की शोभा बढ़ाने के लिए भी इस प्रकार के दंड का चिह्न बनाया जाता है।

9. ि इस प्रकार ह्रस्व इकार पंक्ति के अन्त में बनाकर उसका अक्षर दूसरी पंक्ति में भी लिखा जाता है और 'आ' की मात्रा दीर्घ ई ी पंक्ति के बाहर मार्जिन में अथवा दूसरी (=अगली) पंक्ति में भी लिखी जाती है।

10. पूर्णविराम के लिए इसप्रकार का - '।' दंड होता है।

11. गाथा या श्लोक के पूर्ण हो जाने पर इस प्रकार = '॥' दो दंड होते हैं।

12. ग्रंथ के आदि में 'ए ६०' या '६०' जो चिह्न रहता है वह मंगलसूचक है (= आदि मंगल का सूचक) और उसको 'भली मींडु' कहते हैं।

13. ग्रंथ की समाप्ति या प्रकरण की समाप्ति पर "॥ छ ॥" इसप्रकार 'छ' का चिह्न लिखा जाता है जो कि ग्रंथ या प्रकरण की समाप्ति का सूचक है।

14. 'त' औ 'छ' = (छ) के योग/संयुक्त होने पर उसको 'त्य' पढ़ा जाना चाहिए।

15. 'स' और 'छ' जब संयुक्त हो तो उसे 'स्थ' पढ़ा जाना चाहिए।

16. प्राचीन पुस्तकों में जिस अक्षर के ऊपर रेफ = ८, आता है उस अक्षर का द्वित्व कर देते हैं - 'धर्म' = 'धर्म्म'।

17. ह्रस्व उकार को जब अग्रमात्रा के रूप में जोड़ते हैं तब उकार के ऊपरवाले भाग पर शिरोरेखा नहीं होती है - 'कु' = 'कु', 'तु' = 'तु', 'मु' = 'मु', 'सु' = 'सु'।

18. यदि केवल मात्रा निकालनी (delete करना) हो तो उस मात्रा के ऊपर इस प्रकार का चिह्न बनाते हैं - 'ति', 'की', 'तौ' आदि।

19. गेरू लगाया हुआ भाग ध्यानाकर्षण का चिह्न है, निकालने का नहीं।

20. पुरानी पुस्तकों में यदि पद छूटा हुआ दिखता है या बीच में कहीं पर जगह छोड़ी गयी दिखती है तो वह लिपि की सुन्दरता बढ़ाने के लिए किया जाता है।

21. प्राचीन पुस्तकों में अनुनासिक (ँ) के स्थान पर अनुस्वार (ं) का प्रयोग किया गया है।

22. अक्षर यदि अशुद्ध लिखा गया हो और लेखक के ध्यान में आ जाए तो उस अशुद्ध अक्षर के ऊपर उसी समय शुद्ध अक्षर लिख कर सुखा देता है और जो भाग नहीं चाहिए उस भाग के ऊपर हड़ताल (पीला रंग) लगा कर शुद्ध अक्षर बना देता है, पर यदि हरताल लगाना रह जाए तो वह अक्षर इस प्रकार दिखाई देता है - 'म'ऋ', 'प'च', 'ह्ल', 'द'ब्र' आदि।

23. पहली पंक्ति के ऊपर खाली जगह होने के कारण कतिपय लेखक ह्रस्व और दीर्घ इकार इस प्रकार बनाते हैं 'जि' = जि, 'सि' = सि, 'श्री' = श्री आदि।

24. अक्षर को दो प्रकार से संयुक्त करते हैं। (i) पुरानी विधि से ऊपर नीचे, जैसे 'क्व' = 'क्व' और (ii) आधुनिक विधि से अगल-बगल में, जैसे 'क्व'।

25. हलन्त अक्षर को दर्शाने के लिए अक्षर के नीचे एक मात्रा की तरह चिह्न बनाया जाता है, जैसे 'त्', 'म्'।

26. अवग्रह का चिह्न 'ऽ' अथवा 'ऽ' इस तरह का होता है।

27. कतिपय हस्तलिखित प्रतियों में संशोधकों के द्वारा किये हुए चिह्न भी मिलते हैं :-

(i) 'तेन/जानन्ति' इस विधि से पद के अंतिम अक्षर के ऊपर खड़ी रेखा मिलती है। यह खड़ी रेखा (।) इस ओर संकेत करती है कि 'तेन' और 'जानन्ति' - ये दोनों पद अलग हैं।

(ii) 'ख', 'क', ष या 'ज', 'य' अथवा 'श', 'ष', 'स' - इन अक्षरों में से किसी अक्षर के ऊपर यदि 'ᔑ' इस तरह का चिह्न किया गया हो तो वह उचित अक्षर पढ़ने का संकेत करता है।

(iii) टिप्पण का पाठ जब बाहर लिखते हैं तब '=' या 'ᓵ' इस प्रकार का चिह्न बनाते हैं।

(iv) 'अ' या 'आ' की संधि दर्शानेवाले स्थल पर 'अ' के एक अवग्रह का चिह्न (ऽ) और 'आ' के लिए दो अवग्रह (ऽऽ) का चिह्न बनाते हैं।

28. अक्षर त्रुटित होने के कारण खराब हुआ भाग खाली छोड़ दिया जाता है अथवा उस भाग को 'थ थ थ थ' या 'ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ' इस प्रकार का चिह्न बनाकर पूरा किया जाता है।

ठीक तरह से नहीं पढ़ पाने के कारण हस्तलिखित पुस्तकों की नकल करते समय निम्न प्रकार की अशुद्धियाँ देखी जाती हैं :-

1. कतिपय लिपिक शिरोरेखा का प्रारंभ बिन्दु से करते हैं, जैसे कि 'स' 'भ' इससे 'भ' और 'न' का 'स' हो जाता है।

2. 'आ' की मात्रा का दंड (विराम चिह्न) और दंड 'आ' की मात्रा हो जाती है। ध्यान में रखना चाहिए कि दंड हमेशा शिरोरेखा से रहित होता है और 'आ' की मात्रा शिरोरेखा से जुड़ी होती है, जैसे - 'मा' च '।' आदि।

3. 'आ' की मात्रा बाद वाले अक्षर की 'पडिमात्रा' (पूर्व में आने वाली - 'ए' की मात्रा) बन जाती है और पडिमात्रा पहले अक्षर की 'आ' की मात्रा बन जाती है। जैसे कि 'राम' (राम) का रमे (राम) अथवा रमे (राम) का राम (राम)। ध्यान में रखना चाहिए 'आ' की मात्रा का निचला सिरा सीधा

अ	अ	क	का	ध	ध
आ	आ	ख	रव ष	न	न
इ	इ इ	ग	ग	प	प
ई	ई ई	घ	घ	फ	फ
उ	उ	ङ	ङ	ब	ब
ऊ	ऊ	च	च च	भ	भ त्त न
ऋ	ऋ	छ	ब	म	म
ऌ	ऌ	ज	ज झ	य	य १
ॡ	ॡ	झ	ज झ	र	र २
ए	ए ऐ	ञ	ज	ल	ल ३
ऐ	ए ऐ	ट	ट	व	व ४ ४
ओ	ओ	ठ	ठ	श	श ५ ५
औ	औ	ड	ड ड	ष	ष ६
अं	अं	ढ	ढ	स	स ७
अः	अः	ण	ण	ह	ह ८ ८
		त	त		९ ८ए
		थ	ध थ		१० १०
		द	द		

धा धा धा
कि कि कि
की की
कीं कीं
कु कु कुं
खु खु
गु गु
घु घु
चु चु
छु छु
जु जु
झु झु
ञु ञु
टु टु
ठु ठु
डु डु
ढु ढु
णु णु
तू तू
थू थू
दू दू
धू धू
नू नू
पू पू
फू फू
बू बू
भू भू
मू मू
यू यू
रू रू
लू लू
वू वू
शू शू
षू षू
सू सू
हू हू
कॅ कॅ
कॅा कॅा
कॅो कॅो
कॅौ कॅौ

कं कं
कः कः
क्क क्का क्कि क्की
क्कु क्कू क्के क्कै
क्को क्कौ क्कं क्कः
ग्ग ग्गा ग्गि ग्गी
ग्गु ग्गू ग्गे ग्गै
ग्गो ग्गौ ग्गं ग्गः
च्च च्चा च्चि च्ची
च्चु च्चू च्चे च्चै
च्चो च्चौ च्चं च्चः
ज्ज ज्जा ज्जि ज्जी
ज्जु ज्जू ज्जे ज्जै
ज्जो ज्जौ ज्जं ज्जः
ञ्च ञ्चा ञ्चि ञ्ची
ञ्चु ञ्चू ञ्चे ञ्चै
ञ्चो ञ्चौ ञ्चं ञ्चः
ट्ट ट्टा ट्टि ट्टी
ट्टु ट्टू ट्टे ट्टै
ट्टो ट्टौ ट्टं ट्टः
ड्ड ड्डा ड्डि ड्डी
ड्डु ड्डू ड्डे ड्डै
ड्डो ड्डौ ड्डं ड्डः
ण्ण ण्णा ण्णि ण्णी
त्त त्ता त्ति त्ती
त्थ त्था त्थि त्थी
द्ध द्धा द्धि द्धी
न्न न्ना न्नि न्नी
ब्ब ब्बा ब्बि ब्बी
भ्भ भ्भा भ्भि भ्भी

त्तो त्तौ त्तं त्तः
व्व व्वा व्वि व्वी
त्क त्का त्कि त्की
त्र त्रा त्रि त्री
त्त त्ता त्ति त्ती
त्न त्ना त्नि त्नी
त्य त्या त्यि त्यी
त्व त्वा त्वि त्वी
त्स त्सा त्सि त्सी
क्त क्ता क्ति क्ती
न्त न्ता न्ति न्ती
प्त प्ता प्ति प्ती
स्त स्ता स्ति स्ती
ग्य ग्या ग्यि ग्यी
र्य र्या र्यि र्यी
ट्य ट्या ट्यि ट्यी
म्य म्या म्यि म्यी
क्र क्रा क्रि क्री
ह्र ह्रा ह्रि ह्री
द्र द्रा द्रि द्री
ह्म ह्मा ह्मि ह्मी
त्क्ष त्क्षा त्क्षि त्क्षी
क्ल क्ला क्लि क्ली

त्तो त्तौ त्तं त्तः
व्व व्वा व्वि व्वी
त्क त्का त्कि त्की
त्र त्रा त्रि त्री
त्त त्ता त्ति त्ती
त्न त्ना त्नि त्नी
त्य त्या त्यि त्यी
त्व त्वा त्वि त्वी
त्स त्सा त्सि त्सी
क्त क्ता क्ति क्ती
न्त न्ता न्ति न्ती
प्त प्ता प्ति प्ती
स्त स्ता स्ति स्ती
ग्य ग्या ग्यि ग्यी
र्य र्या र्यि र्यी
ट्य ट्या ट्यि ट्यी
म्य म्या म्यि म्यी
क्र क्रा क्रि क्री
ह्र ह्रा ह्रि ह्री
द्र द्रा द्रि द्री
ह्म ह्मा ह्मि ह्मी
त्क्ष त्क्षा त्क्षि त्क्षी
क्ल क्ला क्लि क्ली

ल्ल ल्ला ल्लि ल्ली
ल्ल ल्ला
क्ष क्षा क्षि क्षी
ज्ञ ज्ञा ज्ञि ज्ञी
द्द द्दा
ध्व ध्वा
न्व न्वा
ल्व ल्वा ल्वि ल्वी
स्व स्वा
ह्क ह्का
ह्न ह्ना
च्छ च्छा
त्स्य त्स्या
क्ष्म क्ष्मा क्ष्मि क्ष्मी
ण्ह ण्हा ण्हि ण्ही
स्थ स्था
नँ
फ्रँ फ्रँा
श्रीं
॥ण्ड्र्दी॥
॥ढ॥
क्त्र क्त्रा क्त्रि क्त्री

लिपि साम्य होने के कारण अक्षरों को समझने में भ्रम होता है, वे निम्न प्रकार हैं :

होता है और पडिमात्रा (पूर्व में आनेवाली 'ए' की मात्रा) का निचला सिरा अक्षर की ओर मुड़ा हुआ होता है।

4. ह्रस्व इकार की दो मात्रा एवं दो मात्राओं के स्थान पर ह्रस्व इकार भी हो जाता है। जैसे - मि (मि) का मै (ꣳमि) और मै (ꣳमै) का मि (ꣳमि)।

5. कितने ही लिपिक दीर्घ ईकार के चिह्न को इस प्रकार से जोड़ते हैं कि 'आ' की मात्रा का भ्रम हो जाता है। जैसे कि मी (ꣳमी) का मा (ꣳमा) की तरह दिखना।

6. पड़िमात्रा का ह्रस्व इकार (ि) और ह्रस्व इकार की पडिमात्रा बन जाती है। जैसे कि वे (वे) का वि (वि) और उसी भाँति वि (वि) का वे (वे)।

7. कितने ही लिपिक अक्षर का खड़ा दंड नीचे से पतला और मुड़ा हुआ बनाते हैं। जैसे कि 'क्', 'च्', 'म्'। इनकी नकल करते समय ये अक्षर हलन्त से युक्त 'क्' 'च्' 'म्' का भ्रम उत्पन्न करते हैं। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि हलन्त हमेशा अक्षर से अलग होता है।

8. 'अ' के स्थान पर कभी-कभी 'ऽ' भी लिख देते हैं।

9. 'र्य' के स्थान पर '्य' इस प्रकार का प्रयोग भी मिलता है।

10. अक्षर के ऊपर दो रेफ का चिह्न 'आ' की मात्रा का चिह्न है। जैसे कि काम (ꣳक्रम) परन्तु इसको रेफ (र्) पढ़ने की गलती हो जाती है।

11. दीर्घ ईकार जब रेफ के साथ आता है तब इस प्रकार लिखा जाता है - र्ी (ꣳर्मी), पर इसको 'मी' पढ़ने की गलती हो जाती है।

कहने का अभिप्राय यह है कि उपर्युक्त सभी भूलों का निराकरण प्रति के 'उद्देश्य' से हो सकता है। उद्देश्य का पता हमें (1) प्रति के प्रथम पत्र के प्रथम पृष्ठ पर लिखा मिलता है, (2) या प्रति के अन्त में (पुष्पिका के अंत में) अन्तिम पत्र पर लिखा होता है, (3) या यदि गुटकों-पोथियों में कुछ रचनाएँ एक हस्तलेख में हों और कुछ भिन्न में, तो प्राय: एक प्रकार के हस्तलेख के अन्त में मिलता है। अत: अध्येता को गुटका या पोथी के मध्य-अंश को देखना

चाहिए। कभी-कभी ऐसा भी लिखा मिलता है कि 'उद्देश्य' लिखा तो प्रारंभ के पन्ने पर है; किन्तु समाप्ति पुष्पिका के अन्त में की गई है।

9. 'उद्देश्य' क्यों लिखा जाता है?

निरुद्देश्य कोई प्रति नहीं लिखी जाती है। अत: देखना यह है कि उद्देश्य में क्या लिखा रहता है? या प्रतिलिपिकार 'उद्देश्य' क्यों लिखता है? इससे जानबूझकर या सचेष्ट की गई विकृतियों का पता लगाया जा सकता है। 'उद्देश्य' निम्न कारणों से लिखा जाता है -

(क) लिपिकर्ता किसका शिष्य है?

(ख) लिपिकर्ता ने किस गाँव या घर या निवास-स्थान पर प्रति लिखी है?

(ग) लिपिकर्ता ने किस डेरे या सांथरी या देश (क्षेत्र-विशेष) में प्रति लिखी?

(घ) लिपिकर्ता ने किस समय में या यात्रा में या मंदिर में या किसके सान्निध्य में, या किस अवसर (अक्षय तृतीया, गणेश चतुर्थी, दशहरा आदि) पर प्रति लिखी?

(ङ) लिपिकर्ता ने किसके आदेश या कहने या प्रार्थना करने पर प्रति लिखी?

(च) लिपिकर्ता ने किसके लिए या किसे भेंट करने के लिए या पाठ करने के लिए या पढ़ने के लिए या संग्रह के लिए या सुनाने के लिए प्रति लिखी?

(छ) लिपिकर्ता ने स्वपठनार्थ या संग्रह के लिए प्रति लिखी।

(ज) लिपिकर्ता ने किस जर्जर या नष्टप्राय: प्रति के बदले में प्रति लिखी?

(झ) लिपिकर्ता किस प्रकार के गुरु के शिष्य थे? पिता, दीक्षा गुरु या सम्प्रदायगत गुरु?

एक उदाहरण द्वारा इन कारणों के उत्तर ढूँढ़ने का प्रयास किया जा सकता है। 'लालदासी सम्प्रदाय की वाणी' (मूलवाणी) (सम्पादक डॉ. महावीर प्रसाद शर्मा एवं डॉ. राकेशकुमार शर्मा) की पुष्पिका में लिपिकर्ता ने अपना 'उद्देश्य' इस प्रकार प्रस्तुत किया है -

''इति श्री लालदासजी का नुकता साषी भजन संपूर्ण समापितौ पोथी लीषतं रूपराम विरामण अलवर ग(ढ) मध्ये राजाधिराज्य राव वषतावर सिंघ मीती चैत

वदि 12 सुकर वा(र) संवत् 1861 पोथी लीषतं रूपराम पठनार्थ रूपरामजी वेटो चोषा विरामण को।''

इस प्रकार किसी भी प्रति के पाठ-सम्पादन के समय उपर्युक्त प्रकार से उद्देश्य जानना आवश्यक है, जिससे प्रति की तुलनात्मक विश्वसनीयता का पता लग सकेगा।

10. 'उद्देश्य' के कारणों से होनेवाली पाठ-संबंधी विकृतियाँ

'उद्देश्य' लिखने के उपर्युक्त कारणों से होनेवाली भूलों की संभावना निम्न प्रकार से की जा सकती है -

1. यदि प्रति, प्रतिलिपिकर्ता के गुरु से संबंधित या गुरु की ही है तो उसमें श्रद्धावश या साम्प्रदायिक भावना के अनुसार प्रतिलिपिकर्ता कुछ नया या जोड़-तोड़ पूर्ण लिख सकता है।
2. प्रति किस गाँव या घर में लिपिबद्ध की गई है इससे भी लिपिकर्ता अपना कोई संबंध जोड़ लेता है, जैसे - उस गाँव में रहने वाले अधिसंख्यक लोग किसी एक ही जाति के हैं और लिपिकर्ता भी उसी जाति का है तो वह कवि या रचनाकार विशेष को भी उसी जाति का लिख सकता है।
3. किस डेरे या सांथरी की शिष्य परम्परा से संबंधित भूलें भी स्वाभाविक हैं। यानी 'डेरे' से गद्दीधारी महन्त, उनके गुरु एवं सम्प्रदाय की मान्यताओं का जिक्र होगा। 'सांथरी' वाली स्थिति में पहले गुरु और उनके शिष्य का नामोल्लेख होगा और 'देश' का नाम लिखने वाला किसी दूसरे प्रान्त का होगा।
4. समय, यात्रा, मन्दिर आदि से अभिप्राय यह है कि इनके संदर्भ में भावुक लिपिक मूलपाठ को तोड़-मरोड़कर लिख सकता है।
5. किसके आदेश या कहने से अभिप्राय यह है कि इस बहाने कहनेवाले की पूर्वज-परम्परा का समावेश भी लिपिक कर सकता है।
6. किसके लिए या भेंट करने के लिए तैयार प्रति में लिपिक दुरूहता को कम करने एवं सरल करके लिखने की प्रवृत्ति के कारण जानबूझकर या सचेष्ट विकृतियाँ प्रस्तुत कर सकता है।

7. स्वयं पठनार्थ या संग्रह हेतु तैयार प्रति में भी सचेष्ट विकृतियों की संभावना बनी रहती है।
8. बदले में लिखी प्रति में अपेक्षाकृत कम विकृतियाँ होती हैं, क्योंकि इसमें लिपिकर्ता मक्षिका स्थाने मक्षिका ही लिखने का प्रयास करता है।
9. लिपिकर्ता गुरु परम्परा की दृष्टि से अधिक विश्वसनीय प्रति तैयार करता है।

विशेष महत्वपूर्ण बात यह है कि जब लिपिकर्ता स्वयं भी रचनाकार हो और उसके पास काफी रचनाएँ हों और सम्प्रदाय विशेष का हो तो ईमानदारी से कार्य करना कठिन रहता है। क्योंकि वह अपनी रचनाओं के अंश भी कभी-कभी समाविष्ट करने का प्रयास कर सकता है।

11. लेखन-प्रक्रिया (लिपि)

सांस्कृतिक दृष्टि से यूनान, मिश्र, रोम और भारत की संस्कृतियाँ सबसे प्राचीन हैं। सभ्यता के विकास के साथ लेखन (लिपि) का जन्म एवं विकास भी इन्हीं संस्कृतियों की थाती है। यही कारण है कि डॉ. डेविस डिरिंजर अपने 'द अल्फाबेट' नामक ग्रंथ में कहते हैं, "प्राचीन मिश्रवासियों ने लेखन का जन्मदाता या तो थौथ (Thoth) को माना है, जिसने प्राय: सभी सांस्कृतिक तत्वों का आविष्कार किया था, या यह श्रेय आइसिस को दिया है। बेबीलोनवासी माईक पुत्र नेबो (Nebo) नामक देवता को लेखन का आविष्कारक मानते हैं। यह देवता मनुष्य के भाग्य का देवता भी है। एक प्राचीन यहूदी परम्परा में मूसा को लिपि का निर्माता माना गया है। यूनानी पुराणगाथा (मिश्र) में या तो हर्मीज नामक देवता को लेखन का श्रेय दिया गया है, या किसी अन्य देवता को। प्राचीन चीनी, भारतीय तथा अन्य कई जातियाँ भी लेखन का मूल दैवी ही मानते हैं। इसी दैवी-सिद्धान्त को स्वीकारते हुए डॉ. बाबूराम सक्सेना अपने 'भाषाविज्ञान' नामक ग्रंथ में कहते हैं -

"असल बात तो यह है कि ब्राह्मी लिपि' भारतवर्ष के आर्यों की अपनी खोज से उत्पन्न किया हुआ मौलिक आविष्कार है। इसकी प्राचीनता और सर्वाङ्ग सुंदरता से चाहे इसका कर्ता ब्रह्मा देवता माना जाकर इसका नाम ब्राह्मी पड़ा चाहे साक्षर समाज ब्राह्मणों की लिपि होने से यह ब्राह्मी कहलाई हो' और चाहे

ब्रह्म (ज्ञान) की रक्षा के लिए सर्वोत्तम साधन होने के कारण इसको यह नाम दिया गया। इस देश में इसकी विदेशी उत्पत्ति का सूचक कोई प्रमाण नहीं मिलता।'[1] इसलिए सभी प्राचीन भाषाएँ और उनकी लिपियों की उत्पत्ति दैवी मानी गई है तथा उनमें लिखित उनके आदि ग्रंथ या रचनाएँ भी दैवी (अपौरुषेय) मानी गई हैं। हमारे वेद इसीलिए 'अपौरुषेय' कहलाते हैं। हमारी भाषा 'देववाणी' एवं लिपि 'देवनागरी' कहलाती है।

वस्तुत: प्राचीन भारत में लेखन-कार्य का अत्यधिक धार्मिक महत्व था तथा इस कार्य को अत्यधिक पवित्र कार्य माना जाता था। शायद इसी कारण हमारे अनेक प्राचीन ग्रंथों के अन्त में हस्तलिखित की रक्षा करने की कामना की जाती थी। 'पाण्डुलिपि विज्ञान' में डॉ. सत्येन्द्र इस प्रकार के कुछ श्लोक प्रमाण-स्वरूप प्रस्तुत करते हुए कहते हैं -

जलाद् रक्षेत् स्थलाद् रक्षेत्, रक्षेत् शिथिल बंधनात्,
मूर्ख हस्ते न दातव्या, एवं वदति पुस्तिका॥''
अग्ने रक्षेत् जलाद् रक्षेत्, मूषकेभ्यो विशेषत:
कष्टेन लिखितं शास्त्रं, यत्नेन परिपालयेत्।
उदकानिल चौरेभ्यो, मूषकेभ्यो हुताशनात्
कष्टेन लिखितं शास्त्रं, यत्नेन परिपालयेत।'

अर्थात् बड़े कष्टपूर्वक श्रम से लिखे शास्त्र की प्रयत्नपूर्वक रक्षा करनी चाहिए। विशेष रूप से पानी, मिट्टी, शिथिल बंधन, मूर्ख व्यक्ति के हाथों से, अग्नि, वायु, मूषक और चोर से भी रक्षा करनी चाहिए।

12. लेखन-परम्पराएँ

हमारे देश में पाण्डुलिपि-लेखकों के द्वारा तीन प्रकार की परम्पराओं का अनुसरण किया जाता है - 1. सामान्य, 2. विशेष, 3. शुभाशुभ।

1. **सामान्य** के अन्तर्गत निम्नलिखित परम्पराओं का अनुसरण किया गया है :

(क) लेखन-दिशा : पाण्डुलिपियों में लेखन की अनेक दिशाएँ देखने को मिलती हैं। चीनीलिपि में ऊपर से नीचे की ओर, खरोष्टी एवं फारसी लिपि में

1. पाण्डुलिपि विज्ञान, पृ. 32

दाएँ से बाईं ओर, नागरी लिपि (ब्राह्मी) में बाएँ से दाहिनी ओर, और कहीं-कहीं ब्राह्मी लिपि में बाएँ से दाएँ और पुनः दाएँ से बाएँ लिखने के प्रयोग भी मिलते हैं। स्वात के एक लेख में खरोष्ठी लिपि नीचे से ऊपर की ओर लिखी गई भी मिलती है।

(ख) पंक्तिबद्धता : पंक्तिबद्धता से अर्थ है लिपि के अक्षरों की माप। मौर्यकालीन शिलालेखों से यह प्रकट होता है कि प्रायः प्रत्येक अक्षर लम्बाई-चौड़ाई में समान माप का होता है तथा सभी अक्षर बाएँ से दाएँ, पंक्तिबद्ध, सीधी-पड़ी रेखाओं में लिखे जाते थे।

(ग) मिलित शब्दावली : प्राचीनकाल में हस्तलिखित ग्रंथों में सभी शब्द एक दूसरे से मिलाकर एक ही पंक्ति में लिखे जाने की परम्परा थी। यूनान में भी यही परम्परा थी। अलग-अलग शब्दों में लिखने की परम्परा का प्रारंभ 11वीं शताब्दी की पाण्डुलिपियों से देखने को मिलता है।

(घ) विराम-चिह्न : प्रायः मिलित शब्दावली की परम्परा में विराम-चिह्नों का अभाव रहता है। हमारे देश में पाँचवीं शताब्दी ई.पू. से ईस्वी सन् तक केवल एक विराम-चिह्न - दंड या एक आड़ी लकीर(।) - का प्रयोग मिलता है। इसके अतिरिक्त बाद में निम्नलिखित विराम-चिह्नों का प्रयोग भी मिलता है -

।, ॥, ፣, ১।, ١٥, ٧٤, ۷۱, ๓, ๛, ///, -, ~,), ~, ¤, :, ॥, ३, ७.

कुछ पाण्डुलिपियों में विराम-चिह्नों के साथ मंगलचिह्न एवं अंक का भी प्रयोग विराम-चिह्न की तरह किया गया मिलता है।

(ङ) पृष्ठ संख्या : प्राचीन हस्तलिखित ग्रंथों में पृष्ठ की बनिस्बत पन्ने के अंक दिए जाने की परम्परा मिलती है। ताम्रपत्रों में भी यही परम्परा थी। यह संख्या पन्ने की पीठ वाले पृष्ठ पर (सांक पृष्ठ पर) अंकित की जाती थी। यह पृष्ठ संख्या किस रूप में डाली जाती थी? इसे स्पष्ट करते हुए मुनिश्री पुण्यविजय जी कहते हैं - "ताड़पत्रीय जैन पुस्तकों में दाहिनी ओर ऊपर हाशिये में अक्षरात्मक अंक और बायीं ओर अंकात्मक अंक दिये जाते थे। जैन छेद आगमों और उनकी चूर्णियों में पाठ, प्रायश्चित्त, भंग आदि का निर्देश अक्षरात्मक अंकों में करने की परिपाटी थी।"[1]

1. भारतीय जैन श्रमण संस्कृति अने लेखन कला, पृ. 62

मुनि पुण्यविजयजी ने अक्षरांकों के लिए जो सूची दी है, वह इस प्रकार है –[1]

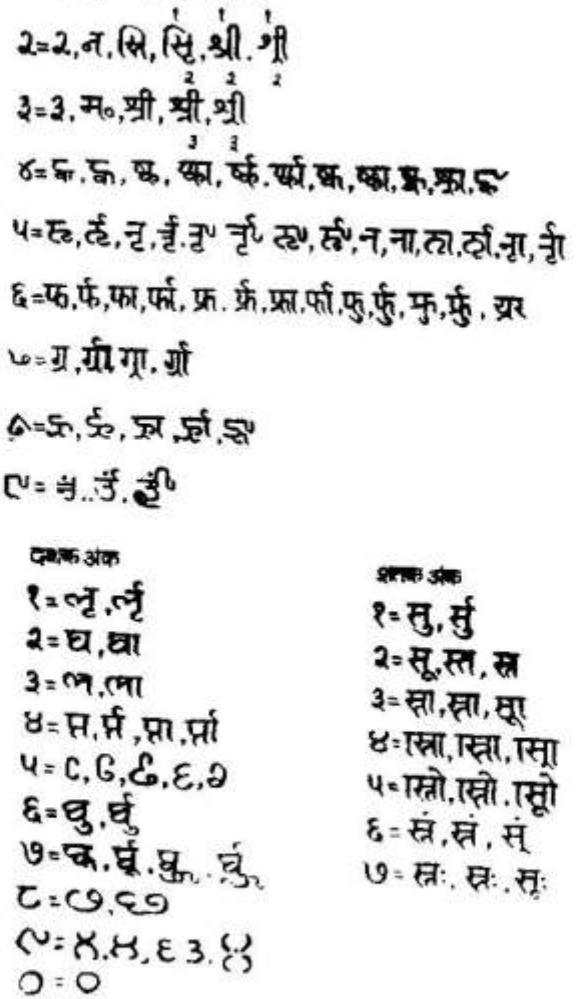

1. भारतीय जैन श्रमण संस्कृति अने लेखन कला, पृ. 63

महामहोपाध्याय गौरीशंकर हीराचन्द ओझा जी की सूची इस प्रकार है[1]:

१.ए.ख और ऊँ
२.त्रि.स्ति और न
३.त्रि.प्री और म
४-ङ्क, ङ्के, ङ्का, रक, रकं, ष्क, ष्कं, ष्क (ष्के), क्कं, क्कं, फ्रं और पु
५.तृ, तृं, तृीं, नृ, ह और नृ
६-फ्र, फ्रं, फ्रुं, घ्र, भ्र, पुं, व्या और फ्ल
७=ग्र, ग्रा, ग्रीं, म्भ्रीं, ग्र्गा, और भ्र
८=ह्रू, ह्रूं, ह्रीं, और द्र
९=ओ, ऊँ, उं, उं, ऊँ, अ और नुं
१०=लृ, लृं, ळ, राट, ओ, अ और र्त्ता
२०=थ, था, र्थ, र्थी, घ्र, र्घ, प्व और ष
३०=ल, ला, लं और र्ल्ला
४०=प्र, र्प, प्रा, र्प्ता और प्र
५०=ढ, ढ, ढ, ढ, ढ और ण्
६०=चु, चु, घु, थु, र्थु, थ्, र्थ्, घुं, र्घु और घु
७०=चु, चू, थ्र, र्थ्र, घ्रं और म्ल
८०=ए, ए, ए, ए, ए और पु
९०=ब्ब, ६३, ब्ब, ६, और ∞
१००=सु, सू, लु और ॐ
२००=सु, सू, सुं, आ, त्रू और घ्रू
३००=स्ता, स्ता, स्ता, सा, सु, सुं और सू
४००=स्रू, स्त्रो, और स्ता

1. भारतीय प्राचीन लिपिमाला, पृ. 107

'भारतीय प्राचीन लिपिमाला' के लेखक डॉ. गौरीशंकर हीराचन्द ओझा जी अपने ग्रंथ के पृ. 108 पर इन अंकों को शिलालेखों, दानपत्रों एवं पाण्डुलिपियों पर किस प्रकार लिखे जाते थे, का उल्लेख करते हुए कहते हैं -

''प्राचीन शिलालेखों और दानपत्रों में सब अंक एक पंक्ति में लिखे जाते थे, परन्तु हस्तलिखित पुस्तकों के पत्रांकों में चीनी अक्षरों की नांई एक दूसरे के नीचे लिखे मिलते हैं। --- पिछली पुस्तकों में एक ही पन्ने पर प्राचीन और नवीन दोनों शैलियों से भी अंक लिखे मिलते हैं। पन्ने के दूसरी तरफ के दाहिनी ओर के ऊपर की तरफ के हाशिये पर तो अक्षर संकेत से, जिसको अक्षर-पल्ली कहते थे, और दाहिनी तरफ के नीचे के हाशिये पर नवीन शैली के अंकों से, जिनको अंकपल्ली कहते थे।''

नेपाल, राजपूताना, गुजरात आदि से प्राप्त 16वीं शताब्दी तक की पाण्डुलिपियों में यह अक्षरक्रम देखने को मिलता है। यथा -

३३ = ल्मर ३ , १०० = सु १ , १०२ = सु २ , १३१ = सु ल्मे १ , १५० = सु ६ ० , २०६ = सु ३ ६

आदि।

(च) संशोधन : पाण्डुलिपि-विज्ञान में संशोधन की परम्परा से अभिप्राय लिपिकर्ता द्वारा प्रमादवश की गई असावधानियों से है जो पाठालोचन-विज्ञान के अध्येता के लिए समस्या बन जाती हैं। साथ ही पाण्डुलिपि में लेखन की त्रुटियों को ठीक करने हेतु लिपिकर्ता द्वारा संशोधन करने हेतु अपनाई गई चिह्न-प्रणाली से है। ऐसे 16 प्रकार के चिह्नों की सूची 'पाण्डुलिपिविज्ञान'[1] में इस प्रकार प्रस्तुत की गई है -

1. पाण्डुलिपिविज्ञान, डॉ. सत्येन्द्र पृ. 38-40

त्रुटिनाम 1	चिह्ननाम 2	चिह्न 3
1. पतित पाठ (कहीं किसी अक्षर या शब्द का छूट जाना 'पतित पाठ' है)	पतित पाठ दर्शक चिह्न को 'हंस पग' या 'मोर पग' कहा गया है। हिन्दी में 'काक पद' कहते हैं।	^, V, V̂, X, X̂
2. पतित पाठ विभाग	पतित पाठ विभाग दर्शक चिह्न	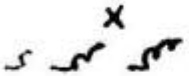
3. 'काना' (मात्रा की भूल)	काना दर्शक चिह्न	'रेफ के समान होने से भ्रान्ति के कारण यह भी पाठ-भ्रान्ति में सहायक होता ही है।
4. अन्याक्षर: [किन्ही प्राय: समान-सी ध्वनि वाले अक्षरों में से अनुपयुक्त अक्षर लिख दिया गया।]	अन्याक्षर वाचन दर्शक चिह्न	W जिस अक्षर पर यह चिह्न लगा होगा, उसका शुद्ध अक्षर उस स्थान पर मानना होगा। यथा : W सत्रु। जहाँ स पर यह चिह्न है। W अत: इसे 'श' पढ़ना होगा, खत्रिय पढ़ा जायेगा 'क्षत्रिय'।
5. उलटी-सुलटी लिखाई	पाठपरावृत्ति दर्शक चिह्न	2, 1 लिखना या 'बनचर' लिख गये 'वचनर' तो इसे ठीक करने के ३ १ लिये व च र लिखा जायगा। ३ १ च न का अर्थ होगा कि 'न' पहले 'च' दूजे पढ़ा जायगा। अधिक उलट सुलट हो तो क्रम से 3, 4

त्रुटिनाम 1	चिह्ननाम 2	चिह्न 3
		और अन्य अंकों का प्रयोग भी हो सकता है।
6. स्वर-संधि की भूल	स्वर संध्यंशदर्शक चिह्न	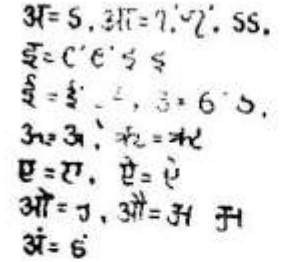
7. पाठ भेद*	पाठ भेद दर्शक चिह्न	प्र. प्रा., प्रत्यं पाठां. प्रत्यन्तरें पाठांतरम्
8. पाठ भेद	पाठानुसंधान दर्शक चिह्न	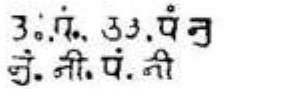
9. मिलित पदों में भ्रान्ति	पदच्छेद दर्शक चिह्न या वाक्यार्थ समाप्ति दर्शक चिह्न या पाद विभाग दर्शक-चिह्न	 यह मिलित पदों के ऊपर लगाया जाता है।
10. विभाग-भ्रान्ति*	विभाग दर्शक चिह्न	
11. पदच्छेद भ्रांति*	एकपद दर्शक चिह्न	 ऐसे दो चिह्नों के बीच में प्रस्तुत पद में पदच्छेद-निषेध सूचित होता है।
12. विभक्ति वचन* भ्रान्ति	विभक्ति वचन दर्शक चिह्न	11, 12, 13, 23, 32, 41, 53, 62, 73, 82

त्रुटिनाम 1	चिह्ननाम 2	चिह्न 3
	ये चिह्न विभक्ति और वचन में भ्रांति न हो इसलिए लगाये जाते हैं।	ये जोड़े से अंक आते हैं, जिनमें से पहला अंक विभक्ति द्योतक (1= प्रथमा 6= षष्ठी आदि) तथा दूसरा वचन-द्योतक होता है। (1 = एकवचन, 2 = द्विवचन 3 = बहुवचन) जैसे 11 का अर्थ है प्रथमा एकवचन।
13. पदों के अन्वय में भ्रांति*	अन्वयदर्शक चिह्न	शिरोभाग पर अन्वय क्रम 3 1 द्योतक अंक यथा न ततोऽर्थान्तरं 4 2 स्वसंवेदन प्रत्यक्षम् यहाँ 1 संख्या वाला पद पहले; 2 का उसके बाद, 3 उसके बाद तथा उसके बाद 4 अंक वाला इस क्रम में अन्वय होता है। ठीक अन्वय हुआ; ततोऽर्थान्तरं प्रत्यक्षं न स्वसंवेदनम्।
14. विशेषण-भ्रम विशेष्य-भ्रम*	विशेषण विशेष्य संबंध दर्शक चिह्न	U, कभी-कभी वाक्यों में, प्रायः लम्बे वाक्यों में विशेषण कहीं और विशेष्य कहीं पढ़ पाता है तब शिरोपरि लगाये गये उक्त चिह्नों से विशेषण-विशेष्य बताये जाते हैं, इससे भ्रान्ति नहीं हो पाती।

15. टिप्पणी
16. किसी शब्द का किसी दूसरे पद से विशिष्ट संबंध दिखने का चिह्न ऊपर के चिह्नों में पुष्पांकित चिह्न पाठक की सुविधार्थ लगाए गए हैं।

(छ) छूटे हुए लिप्यांश की पूर्ति के चिह्न : यह प्रथम प्रकार के संशोधन - पतितपाठ - जैसा ही है। इसे हंस-पग, मोर-पग या काक-पद भी कहते हैं। जहाँ लिपिकर्ता से भूलवश कोई पद, शब्दांश या वाक्यांश लिखने से छूट गया है; ऐसे पाण्डुलेख एवं शिलालेखों में पतित-पाठ के चिह्न लिख कर छूटा हुआ अंश पंक्ति के ऊपर या हाशिये में लिख दिया जाता है। कहीं-कहीं इन चिह्नों के अलावा × या +, अथवा स्वस्तिक-चिह्न भी बनाए जाते हैं। जिन शब्दों का अर्थ प्रतिलिपिकार को स्पष्ट नहीं होता है तब 'कुंडल' (O) का चिह्न बना दिया जाता है या कुंडल से उस अंश को घेरा लगा दिया जाता है।

(ज) संकेताक्षर या संक्षिप्त चिह्न (Abbreviations) : हमारे देश में आंध्रों और कुषाण-काल से पाण्डुलिपियों एवं शिलालेखों में संकेताक्षरों के प्रयोग की परम्परा देखने को मिलती है। ये संक्षिप्त चिह्न या संकेताक्षर निम्नलिखित 17 बताये गये हैं, जो निम्नप्रकार हैं -

1. सम्वत्सर के लिए सम्व, संव, सं या स.
2. ग्रीष्म[2]-ग्री. (गृ.) गै. गि. या गिग्ह्न
3. हेमन्त-हे.
4. दिवस -दि.
5. शुक्ल पक्ष दिन-सु. सुदि. या सुति.। शुक्ल पक्ष को शुद्ध भी कहा जाता है।
6. बहुल पक्ष दिन-ब., ब.दि., या बति.
7. द्वितीय-द्वि.
8. सिद्धम्-ओ. श्री. सि.
9. राउत-रा.
10. दूतक-दू. (संदेशवाहक या प्रतिनिधि)
11. गाथा-गा.
12. श्लोक-श्लो.
13. पाद-पा.
14. ठक्कुर-ठ.
15. एद. ॥ या एर्द. ॥ - 'ओंकार' (ॐ) का चिह्न 'ओं.'

16. ॥ ३ ॥ , ॥ ॐ ॥ - इन चिह्नों का प्रयोग ग्रंथ की समाप्ति पर दिया जाता है।

17. कभी-कभी पाण्डुलिपियों के अन्त में 'पूर्णकुंभ' या 'मंगल वस्तु' के निम्न संक्षिप्त चिह्न देखने को मिलते हैं - 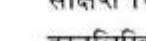 , .किन्हीं-किन्हीं हस्तलिखित पोथियों में अध्ययन, उद्देश्य, श्रुतस्कंध, सर्ग, उच्छवास, परिच्छेद लंभक एवं काण्ड की समाप्ति पर विभिन्न प्रकार के चित्र बनाने की परम्परा भी है।

(झ) अंक मुहर (Seal) : पाण्डुलिपियों के अतिरिक्त दानपत्रों-शिलालेखों को प्रामाणिक बनाने हेतु अंक मुहर (Seal) लगाने की परम्परा थी।

(ञ) लेखक द्वारा अंक-लेखन (शब्दों में भी) : प्राय: पाण्डुलिपि के लेखक पुष्पिका में समय-सूचक छन्द लिखते रहे हैं। इन छन्दों में अंकों के स्थान पर उसके सूचक शब्दों का प्रयोग किया करते थे। इस प्रकार रचनाकारों ने रचनाकाल-लिपिकाल आदि का द्योतन करने के लिए शब्दों से अंकों का कार्य लिया है। संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश तथा अन्य देशी भाषाओं की पाण्डुलिपियों में शब्दों से अंक सूचित करने की परम्परा मिलती है। मुनि पुण्यविजयजी एवं डॉ. गौरीशंकर ओझा ने इस प्रकार के अंक-सूचक शब्दों की सूची प्रस्तुत की है। ये शब्द प्राय: दाएँ से बाएँ पहले इकाई की संख्यासूचक, फिर दहाई, सैकड़ा एवं हजार की संख्या के बोधक होते थे। जैसे -

7 8 4 1

(1) मुनि वसु सागर सितकर मित वर्षे सम्यकत्व कौमुदी।

अर्थात् संवत् 1487 की साल में।

4 1 8 1

(2) वेद इन्दु गज भू गनित संवत्सर कविवार।
श्रावन शुक्ल त्रयोदशी रच्यौ ग्रंथ सुविचारि॥

अर्थात् 1814 वि. सम्वत्

किन्तु कहीं-कहीं इसके विपरीत बाएँ से दाएँ इकाई-दहाई आदि की संख्या-सूचक शब्द भी लिखे मिलते हैं। जैसे -

1 8 8 5

चंद्र नाग बसु पंच गिनि, संवत माधव मास।
सुक्ल सु त्रतिया जीव जुत, तादिन ग्रंथ प्रकास।।[1]

अर्थात् संवत् 1885 वि.

कहीं-कहीं दो-दो शब्दों का अंक-युग्म बनाकर भी समय की सूचना दी गई है जैसे -

तेरस शुक्ला पौष गुरु, कविन किऔ निरधार।
6 1 1 9
षट शशि शशि रस समझिकै, सुरता सोच-विचार।।[2]

अर्थात विक्रम संवत् 1961

अंक-सूचक शब्दों की सूची -

0. शून्य, ख, गगन, आकाश, अम्बर, अभ्र, वियत्, व्योम, अन्तरिक्ष, नभ, पूर्ण, रन्ध्र आदि। + बिन्दु, छिद्र।

1. आदि, शशि, इन्दु, विधु चन्द्र, शीतांशु, शीतरश्मि, सोम, शशांक, सुधांशु, अब्ज, भू, भूमि, क्षिति, धरा, उर्वरा, गो, वसुंधरा, पृथ्वी, क्षमा, धरणी, वसुधा, इला, कु, मही, रूप, पितामह, नायक, तनु, आदि। + कलि, सितरुच, निशेश, निशाकर, औषधीश, क्षपाकर, दाक्षायणी-प्राणेश, जैवातृक।

2. यम, यमन, अश्विन, नासत्य, दस्र, लोचन, नेत्र, अक्षि, दृष्टि, चक्षु, नयन, ईक्षण, पक्ष, बाहु, कर, कर्ण, कुच, ओष्ठ, गुल्फ, जानु जंघा, द्वय, द्वन्द्व, युगल, युग्म, अयन, कुटुम्ब, रविचन्द्रौ आदि। + श्रुति, श्रोत्र।

3. राम, गुण, त्रिगुण, लोक, त्रिजगत् भुवन, काल, त्रिकाल, त्रिगत, त्रिनेत्र, सहोदरा, अग्नि, वह्नि, पावक, वैश्वानर, दहन, तपन, हुताशन, ज्वलन, शिखिन, कृशानु, होतृ आदि। + त्रिपदी, अनल तत्व, त्रैत, शक्ति, पुष्कर, संध्या, ब्रह्म, वर्ण, स्वर, पुरुष, अर्थ, गुप्ति।

1. हम्मीररासो : जोधराज, ना. प्र. सभा काशी
2. भीमविलास : शंकरराव कृत, सम्पादक डॉ. महावीरप्रसाद शर्मा, पृ. 54

4. वेद, श्रुति, समुद्र, सागर, अब्धि, जलधि, उदधि, जलनिधि, अम्बुधि, केन्द्र, वर्ण, आश्रम, युग, तुर्य, कृत, अय, आय, दिश, दिशा, बन्धु, कोष्ठ, वर्ण आदि। + वार्द्धि, नीरधि, नीरनिधि, वारिधि, वारिनिधि, अंबुनिधि, अंभोधि, अर्णव, ध्यान, गति, संज्ञा, कषाय।

5. बाण, शर, सायक, इषु, भूत, पर्व, प्राण, पाण्डव, अर्थ, विषय, महाभूत, तत्त्व, इन्द्रिय, रत्न आदि। + अक्ष, वर्ष्म, व्रत, समिति, कामगुण, शरीर, अनुत्तर, महाव्रत, शिवमुख।

6. रस, अंग, काम, ऋतु, मासार्थ, दर्शन, राग, अरि, शास्त्र, तर्ककारक, आदि। + समास, लेश्या, क्षमाखंड, गुण, गुहक, गुहवक्त्र।

7. नग, अग, भूभृत, पर्वत, शैल, अद्रि, गिरि, ऋषि, मुनि, अत्रि, वार, स्वर, धातु, अश्व, तुरंग, वाजि, द्वन्द्व, धी, कलत्र आदि। + हय, भय, सागर, जलधि, लोक।

8. वसु, अहि, नाग, गज, दंति, दिग्गज, हस्तिन्, मातंग, कुंजर, द्वीप, सर्प, तक्ष, सिद्धि, भूति, अनुष्टुभ, मंगल, आदि। + नागेन्द्र, करि, मद, प्रभावक, कर्मन, धी गुण, बुद्धि गुण, सिद्ध गुण।

9. अंक, नन्द, निधि, ग्रह, रन्ध्र, छिद्र, द्वार, गो, पवन आदि। + खग, हरि, नारद, रव, तत्त्व, ब्रह्म गुप्ति, ब्रह्मवृत्ति, ग्रैवेयक।

10. दिश, दिशा, आशा, अंगुलि, पंक्ति, कुकुभ, रावणशिरं, अवतार, कर्मन आदि। + यतिधर्म, श्रमणधर्म, प्राण।

11. रुद्र, ईश्वर, हर, ईश, भव, भर्ग, हूलिन, महादेव, अक्षौहिणी आदि। + शूलिन।

12. रवि, सूर्य, अर्क, मार्तण्ड, द्युमणि, भानु, आदित्य, दिवाकर, मास, राशि, व्यय आदि। + दिनकर, उष्णांशु, चक्रिन, भावना, भिक्षु प्रतिमा, यति प्रतिमा।

13. विश्वदेवाः, काम, अतिजगती, अघोष आदि। + विश्व, क्रिया स्थान, यक्षः।

14. मनु, विद्या, इन्द्र, शक्र, लोक आदि। + वासव, भुवन, विश्व, रत्न, गुणस्थान, पूर्व, भूतग्राम, रज्जु।

15. तिथि, घर, दिन, अह्न, पक्ष आदि। + परमार्थिक।

16. नृप, भूप, भूपति, अष्टि, कला, आदि। + इन्दुकला, शशिकला।

17. अत्यष्टि।

18. धृति, + अब्रह्म, पापस्थानक।

19. अतिधृति।

20. नख, कृति।

21. उत्कृति, प्रकृति, स्वर्ग।

22. कृति, जाति, + परीषह।

23. विकृति।

24. गायत्री, जिन, अर्हत्, सिद्ध।

25. तत्त्व।

27. नक्षत्र, उडु, भ, इत्यादि।

32. दन्त, रद + रदन।

33. देव, अगर, त्रिदिश, सुर।

40. नरक।

48. जगती।

49. तान, पवन।

+64. स्त्री कला।

+72. पुरुष कला।

यह ध्यान रहे कि एक ही शब्द कई अंकों के पर्यायवाची के रूप में प्रयुक्त होता है। अत: लेखक एवं पाठक को उसका उचित अर्थ तर्क-संगत संदर्भों में स्वयं ही लगाना चाहिए। जैसे - तत्त्व शब्द के लिए 3, 5, 9, 25 आदि अंकों का प्रयोग होता है।

काव्य या साहित्य में भी कवि समय अथवा काव्य-रूढ़ि के रूप में अंकों को शब्दों में लिखने की परम्परा देखी जा सकती है। 'काव्य कल्पलतावृत्ति'

नामक ग्रंथ में काव्य-शास्त्र में प्रयुक्त होने वाली शब्द और उनके पर्याय अंकों की सूची दी गई है।[1] जैसे -

संख्या	पदार्थ
एक -	आदित्य, मेरु, चन्द्र, प्रासाद, दीपखण्ड, कलश, खंग, हर, नेत्र, शेष, स्वर्दण्ड, अंगुष्ठ, हस्तिकर, नासा, वंश, विनायक-दन्त, पताका, मन, शक्राश्व, अद्वैतवाद।
दो -	भुज, दृष्टि, कर्ण, पाद, स्तन, संध्या, राम-लक्ष्मण, शृंग, गजदन्त, प्रीति-रति, गंगा-गौरी, विनायक-स्कन्द, पक्ष, नदीतट, रथधुरी, खंग-धारा, भरत-शत्रुघ्न, राम-सुत, रवि-चन्द्र।
तीन -	भुवन, बलि, वह्नि, विद्या, संध्या, गज-जाति, शम्भुनेत्र, त्रिशिरा, मौलि, दशा, क्षेत्रपाल-फण, काल, मुनि, दण्ड, त्रिफला, त्रिशूल, पुरुष, पलाश-दल, कालिदास-काव्य, वेद, अवस्था, कम्बु-ग्रीवारेखा, त्रिकूट-कूट, त्रिपुर, त्रियामा, यामा, यज्ञोपवीत सूत्र, प्रदक्षिणा, गुप्ति, शल्य, मुद्रा, प्रणाम, शिव, भवमार्ग, शुमेतर।
चार -	ब्रह्मा के मुख, वेद, वर्ण, हरिभुज, सूर-गज-रद, चतुरिका स्तम्भ, संघ, समुद्र, आश्रम, गो-स्तन, आश्रम कषाय, दिशाएँ, गज जाति, याम, सेना के अंग, दण्ड हस्त, दशरथ-पुत्र, उपाध्याय, ध्यान, कथा, अभिनय, रीति, गोवरण, माल्य, संज्ञा, असुर, भेद, योजनक्रोश, लोकपाल।
पाँच -	स्वर, बाण, पाण्डव, इन्द्रिय, करांगुलि, शम्भुमुख, महायज्ञ, विषय, व्याकरणांग, व्रत-वह्नि, पार्श्व, फणि-फण, परमेष्ठि, महाकाव्य, स्थानक, तनुवात, मृगशिर, पंचकुल, महाभूत, प्रणाम, पंचोत्तर, विमान, महाव्रत, मरुत्, शस्त्र, श्रम, तारा।
छः -	रस, राग, ब्रज-कोण, त्रिशिरा के नेत्र, गुण, तर्क, दर्शन, गुहमुख।
सात -	समुद्र, त्रय, सप्तपर्ण-पर्ण, विवाह, पाताल, शुक्रवाह-मुख, दुर्गति।
आठ -	दिशा, अहिकुल, देश, कुम्भिपाल, कुल, पर्वत, वसु, योगांग, व्याकरण, ब्रह्म, श्रुति, शम्भू-मूर्ति।

1. लिपि विज्ञान : डॉ. सत्येन्द्र, पृ. 44

नौ - रस, व्याघ्री-स्तन, सुधा-कुण्ड, जैन-पङ्ग, गुप्ति, अधिग्रह।

दश - रावण-मुख, अँगुली, दिशाएँ, अवस्था-दश, अंगद्वार, शम्भु, कर्ण, यति-धर्म।

ग्यारह - रुद्र, अस्त्र, नेत्र, उपांग, ध्रुव, जिनोपासक, प्रतिमा, जिनमतोक्त अंग।

बारह - राशियाँ, मास, संक्रान्तियाँ, आदित्य, चक्र, राजा, सभासद्, चक्रि, गुह के नेत्र।

तेरह - प्रथम जिन, विश्वेदेव।

चौदह - विद्या-स्थान, स्वर, भुवन, रत्न, पुरुष, स्वप्न, गुण, मार्ग, रज्जु, सूत्र, कुल, कर, पिण्ड, प्रकृति, जीवाजीवोपकरण, स्रोतस्विनी।

पंद्रह - धार्मिक तिथियाँ, चन्द्रकलाएँ।

सोलह - शशिकला, विद्या-देवियाँ।

सत्रह - संयम।

अठारह - पुराण, द्वीप, स्मृतियाँ, विद्याएँ।

उन्नीस - ज्ञाताध्ययन।

बीस - करशाखा, रावण के नेत्र एवं भुजाएँ, सकल-जन-नख एवं अँगुलियाँ।

शत - शतमुख, कमल-दल, रावणांगुलि, जलधि-योजन, शत-पत्र, कीचक, आदिम जिन-सुत, धृतराष्ट्र के पुत्र, जयमाला, मणिहार, स्रज।

सहस्र - गंगामुख, अहिपति-मुख, पंकज-दल, रविकर, इन्द्रनेत्र, अर्जुन-भुज, विश्वामित्राश्रम वर्ष, सामवेद की शाखाएँ, पुण्य-नर-दृष्टि-चन्द्र[1]।

13. अन्य विशिष्ट परम्पराएँ

उपर्युक्त दश सामान्य परम्पराओं के अतिरिक्त कुछ अन्य विशिष्ट परम्पराएँ भी हैं। इनका संबंध रचनाकारों में प्रचलित धारणाएँ, विश्वास या मान्यताओं से है। इनमें से कुछ आनुष्ठानिक भावों, टोनों या धार्मिक संदर्भों से संबंधित हैं। इस प्रकार की कुछ परम्पराएँ निम्नलिखित हैं -

1. भारतीय साहित्य (अप्रेल, 1957), पृ. 194-196

(1) मंगलाचरण या मंगल-प्रतीक, (2) अलंकरण, (3) नमोकार, (4) स्वस्तिमुख, (5) आशीर्वचन, (6) प्रशस्ति, (7) पुष्पिका या उपसंहार, (8) वर्जना (9) लिपिकार प्रतिज्ञा, (10) लेखन समाप्ति शुभ।

1. **मंगलाचरण या मंगल प्रतीक :** भारत में मंगलाचरण या मंगल प्रतीक की परम्परा ई. सन् के प्रारंभ से प्राप्त होती है जिसमें पाण्डुलेख, शिलालेख आदि में लेखन प्रारम्भ करने से पूर्व मंगलचिह्न या प्रतीक, जैसे स्वस्तिक 卐 या शब्दबद्ध मंगल आदि लिखने की प्रथा थी। प्रारंभ में सर्वप्रथम 'सिद्धम्' शब्द लिखा जाता था। बाद में इस हेतु 𑀏 चिह्न की कल्पना की गई। कभी-कभी इन दोनों का साथ-साथ और कभी-कभी अलग-अलग प्रयोग भी होता था। वास्तव में यह चिह्न 𑀏 'ओं.' का स्थानापन्न था। कभी-कभी 'ओम्' के लिए '१' अंक का भी प्रयोग किया जाता था। पाँचवीं शताब्दी से 'स्वस्ति' शब्द का प्रयोग मंगल प्रतीक के रूप में प्रयुक्त होने लगा। धीरे-धीरे इस 'स्वस्ति' के साथ 'ओम' शब्द लगाकर 'ओम स्वस्ति' भी लिखा जाने लगा था। शिलालेखों से ऐसे अनेक मंगल-चिह्न प्राप्त हुए हैं, जैसे - स्वस्ति जयत्याविष्कृतम्, ओम् स्वस्ति जयत्याविष्कृतम्, ओम नमः शिवाय, ओम् ओम् नमो विनाकाय, ओम् नमो वराहाय, ओम् नमः सर्वज्ञाय, आदि। साहित्यिक पाण्डुलिपियों में 'जिन' या संप्रदाय प्रवर्तक - ओम् निम्बार्काय का स्मरण मिलता है। सामान्यतः 'श्री गणेशाय नमः' का प्रयोग होता है। इनके अतिरिक्त राम-सीता, राधा-कृष्ण, पार्वती-परमेश्वर आदि को भी स्मरण किया जाता है। इन मंगलसूचक शब्दों का कोई निश्चित काल निर्धारित नहीं किया जा सकता।[1]

2. **अलंकरण (Illumination) :** पाण्डुलिपिकार द्वारा लिखित ग्रंथ को सुन्दर साज-सज्जा हेतु किसी चित्रकार से अलंकरण करवाया जाता है। फूलपत्ती, बेलबूटों, चित्रों आदि से सज्जित रचना को अलंकरण कहा जाता है।

3. **नमस्कार (Invocation) :** नमस्कार या नमोकार को अंग्रेजी में इनवोकेशन (Invocation) कहते हैं। वस्तुतः जिस मंगल-प्रतीक में 'नमो'कार लगा हो वह इन्वोकेशन या नमोकार ही होता है। इस 'नमोकार' का सबसे प्राचीन उल्लेख खारवेल के हाथी-गुफा अभिलेख में 'नमो अर्हंतानाम्' एवं 'नमो सर्व सिद्धानाम्' के रूप में हुआ है। इस संबंध में मुनि पुण्यविजयजी कहते हैं -

1. पाण्डुलिपिविज्ञान : डॉ. सत्येन्द्र, पृ. 45-46

''भारतीय आर्य संस्कृति ना अनुयायियों कोई पण कार्यनी शुरुआत कांई न कांई नानुं के मोटुं मंगल करीने जेज करे छे। अे शाश्वत नियमानुसार ग्रंथ लेखनता आरम्भ मां हरेक लेखकों उें नम ऐं नमः जयत्यनेकांतकण्ठी खः, नमो जिनाय, नमः श्री गुरुभ्यः, नमो वीतरागाय; ॐ नमः सरस्वत्यै, ॐ नमः सर्वज्ञाय, नमः श्री सिद्धार्थसुताय इत्यादि अनेक प्रकारना देव गुरु धर्म इष्टदेवता आदि ने लगता सामान्य के विशेष मंगलसूचक नमस्कार करता लगता... ।' शिलालेखों में धर्म, संकर्षण, वासुदेव, चन्द्र, सूर्य, महिमावतानाम, लोकमाता, यम, वरुण, कुबेर, वासव, अर्हत, वर्धमान, बुद्ध, संबुद्ध, भास्कर, विष्णु, केतु (विष्णु), गरुड़, पिनाकी, शिव, शूलपाणी, ब्रह्मा आदि को नमस्कार किया गया है।

4. **स्वस्तिमुख (Intiation)** : वस्तुतः इसका अर्थ प्रवर्तन, उपक्रम, सूत्रपात या प्रारंभ होता है।

5. **आशीर्वचन या मंगलकामना (Benediction)** : अशोक के शिलालेखों प्रारंभ होकर यह परम्परा बाद में भारतीय इतिहास और साहित्य में काफी लोकप्रिय हुई है।

6. **प्रशस्ति (Laudation)** : प्रशस्ति के अन्तर्गत लेखक किसी के किए गए कार्य की प्रशंसा या उसके शुभ फल की कामना करता है। प्राचीन लेखों-अभिलेखों में किसी के नैतिक, धार्मिक कार्यों की प्रशंसा में कही गई निम्नलिखित 'प्रशस्ति' अब एक परम्परा बन गई है -

गेहे गेहे कलौ काव्यं, श्रोतातस्य पुरे पुरे।
देशं देशे रसज्ञाता, दाता जगति दुर्लभः ॥[2]

7. **पुष्पिका या उपसंहार** : पाण्डुलिपि के अन्त में रचनाकार या पाण्डुलिपिकर्ता द्वारा पुष्पिका या उपसंहार में निम्नलिखित बातों का उल्लेख करने की परम्परा रही है - (1) रचनाकार या लिपिकर्ता का नाम, (2) रचना-काल, (3) स्वस्तिवचन, (4) किस निमित्त, (5) समर्पण, (6) स्तुति, (7) निन्दा, (8) किस राजा की आज्ञा से लेखन कार्य हुआ आदि।

1. भारतीय जैन श्रमण संस्कृति अने लेखन कला, पृ. 57-58
2. कीर्तिलता : सं. डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ. 4

8. **वर्जना (Imprecation)** : वर्जना का अर्थ है किसी दुष्कर्म की निन्दा या भर्त्सना करना। वस्तुत: वर्जना के द्वारा अशोभनीय एवं अवांछित कार्यों के न करने के लिए कहा जाता है। इस निन्दा या वर्जना के बीज अशोक के अभिलेखों में देखने को मिलते हैं। बाद में 13वीं शती के आते-आते तो यह एक परम्परा का रूप ग्रहण कर चुकी थी। इसी के प्रभावस्वरूप मध्ययुगीन साहित्य में 'खलनिन्दा' की परम्परा चल पड़ी थी।

9. **लिपिकार प्रतिज्ञा** : कोई-कोई लिपिकार अपने निमित्त की गई प्रतिज्ञा का उल्लेख करते हैं।

10. **लेखन समाप्ति शुभ** : इसके अन्तर्गत लिपिकर्ता पाठक-श्रोता की मंगल-कामना करता है। जिसमें कहा जाता है कि जो उक्त रचना के प्रति श्रद्धा-विश्वास व्यक्त करेगा उसका शुभ-मंगल होगा। यह कामना भी एक परम्परा बन गई थी।

14. शुभाशुभ

जब हम लेखन में परम्परा की बात करते हैं तो कुछ बातें शुभ और कुछ अशुभ मानी गयी हैं। यह शुभाशुभ की परम्परा रचना के आकार एवं लेखन के गुण-दोषों से अधिक प्रभावित है। ये निम्न प्रकार की हैं - (1) शुभाशुभ आकार, (2) लेखनी, (3) लेखन के गुण-दोष, (4) लेखन-विराम में शुभाशुभ का विचार।

(1) आकार : पुस्तक का परिमाण क्या हो? आकार क्या हो? इस बात की परम्परा से यह मान्यता चली आ रही है कि परिमाण या आकार में पुस्तक हाथभर, मुट्ठीभर, बारह अँगुलीभर, दश अँगुलीभर या आठ अँगुलीभर की हो सकती है। इससे कम या ज्यादा आकार रचना 'श्रीहीनता' के अशुभ फलदायी होती है। इसी प्रकार रचना का पत्र कैसा हो? इस संबंध में भी कहा है कि भोजपत्र, तेजपत्र, ताड़पत्र, स्वर्णपत्र, ताम्रपत्र, रौप्यपत्र, बटपत्र, केतकीपत्र, मार्तण्डपत्र आदि पर लिखी रचना ही शुभ फलदायी मानी गई है। अन्य किसी पत्र पर लिखने से दुर्गति होती है। हस्तलिखित 'वेद' घर में रखना अशुभ माना जाता है।

(2) लेखनी : लेखनी कैसी हो? इस संबंध में भी शुभाशुभ विचार की परम्परा रही है। मुनि पुण्यविजयजी, डॉ. गौरीशंकर हीराचंद ओझा, डॉ. व्हूलर

एवं डॉ. सत्येन्द्र आदि विद्वानों ने लेखनी के संबंध में विस्तार से विचार किया है। इन सभी ने लेखनी के रंग, उससे लिखने के ढंग, लेखनी में गाँठें, लम्बाई आदि के शुभाशुभ फल बताए हैं। लेखनी के रंग को लेकर चतुर्वर्ण की कल्पना तक की है। जैसे –

लेखनी का रंग	वर्ण	फल
श्वेत	ब्राह्मणी	सुख
लाल	क्षत्राणी	दरिद्रता
पीत (पीला)	वैश्यवी	पुष्कल धन-प्राप्ति
श्याम	आसुरी	धन-नाश

कहने का अभिप्राय यह है कि निर्दोष लेखनी से ही लेखन-कार्य करना चाहिए। किसी प्रकार के लिप्यासन पर लिखने के कार्य में प्रयुक्त साधन को सामान्यत: लेखनी कहा गया है। तूलिका, शलाका, वर्णवर्तिका, वर्णिका, वर्णक, कूँची, कलम आदि लेखनी के ही पर्याय हैं। डॉ. बूहलर का कहना है कि –

"The general name of 'an instrument for writing' is lekhani, which of course includes the stilus, pencils, brusher, reed and wooden pens and is found already in epics."[1] नरसल (Reed) की कलम, जिसे 'इषीका' कहा जाता है, का हमारे देश में विशेष प्रचलन रहा है। इन पंक्तियों के लेखक ने भी नरसल की कलम से सुलेख हेतु तख्ती (पाटी) खूब लिखी है। खुरचकर, कुरेदकर या खोदकर लिखने का साधन – 'छैनी' (Chisel) या लोहे की कलम भी लेखनी का ही पर्याय है।

(3) लेखन का गुण-दोष : भारतीय परम्परा में लेखन-प्रक्रिया से संबंधित सभी वस्तुओं के साथ शुभाशुभ या गुण-दोष की मान्यता रही है। कौनसा या किस प्रकार किया गया लेखन शुभ होता है और किस प्रकार का अशुभ। इस पर प्राचीन काल से ही विचार होता आया है। स्पष्ट, सुन्दर, कलात्मक एवं चित्ताकर्षक लेखन सदैव प्रशंसनीय रहा है।

(4) लेखन-विराम में शुभाशुभ : लेखक या प्रतिलिपिकर्ता को आवश्यकतावश लिखते-लिखते बीच ही में उठना पड़े तो लेखन-विराम करते

1. India Palaeography : Dr. G. Buhler, P. 147

हुए शुभाशुभ का ध्यान रखने की परम्परा रही है। इस परम्परा के अनुसार उसे क, ख, च, छ, ज, ठ, ढ, ण, थ, ध, द, फ, भ, म, य, र, ष, स, ह, क्ष और ज्ञ वर्णों पर विराम नहीं करना चाहिए। ऐसा करना अशुभ माना जाता है। शेष वर्णों पर रुकना शुभ माना जाता है। इन शुभाशुभ अक्षरों या वर्णों की फलश्रुति इस प्रकार है -

अशुभ अक्षरों की फलश्रुति - 'क' कट जावे, 'ख' खा जावे, 'ग' गरम होवे, 'च' चल जावे, 'छ' छटक जावे, 'ज' जोखिम लावे, 'ठ' ठाम न बैठे, 'ढ' ढह जाये, 'ण' नुकसान करे, 'थ' स्थिरता करे, 'द' दाम न दे, 'ध' धन छुड़ावे, 'न' नाश करे, 'फ' फटकारे, 'भ' भ्रमित करे, 'म' मंद या धीमापन लावे, 'य' पुनः न लिखें, 'र' रोवे, 'ष' खिंचावे, 'ह' हीन करे, 'क्ष' क्षय करे, 'ज्ञ' ज्ञान न हो।

शुभ वर्णों की फलश्रुति - 'घ' घरुड़ी लावे, 'झ' झट करे, 'ट' टकावी रखे, 'ड' डिगे नहीं, 'त' तुरन्त लावे, 'प' परमेश्वर, 'ब' बनिया है, 'ल' लावे, 'व' वावे, 'श' शांति करे। मारवाड़ी-परम्परा में 'व' वर्षा पर किया गया लेखन-विराम भी शुभ माना जाता है।[1]

15. स्याही

लेखन-कला में स्याही का महत्व कितना है, यह किसी से छिपा नहीं है। प्राचीन काल से ही स्याही (काली स्याही) का प्रचलन देखने को मिलता है। संस्कृत में 'मषी' या 'मसि' का अर्थ कज्जल होता है। इसी कज्जल से काली स्याही का निर्माण किया जाता था। इसी का सर्वाधिक प्रचलन मिलता है।

जैन परम्परा के अनुसार भगवान आदिनाथ ऋषभदेव ने मनुष्यों को तीन प्रकार के कर्मों में सर्वप्रथम प्रवृत्त किया - 1. असिकर्म (युद्ध विद्या), 2. मसिकर्म (लेखन विद्या), और 3. कृषि कर्म। इन्हीं कर्मों से वर्ण-व्यवस्था का विकास हुआ। 'मसि कर्म' की प्राचीनता का इसी से पता चलता है। अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर का निर्वाण वि. सं. 470 वर्ष पूर्व तथा ईसा से 526 वर्ष पूर्व हुआ था। इस प्रकार आदि तीर्थंकर ऋषभनाथ द्वारा प्रचारित 'मसिकर्म' की प्राचीनता का अनुमान स्वतः ही लगाया जा सकता है।

1. पाण्डुलिपिविज्ञान, पृ. 49

प्रारंभ में स्याही, जल और कज्जल के मिश्रण से ही बनती थी। बाद में तो यह स्याही दीपक के काजल या धुएँ से हाथीदाँत को जलाकर भी बनाई जाती थी। इसमें कोयले का भी प्रयोग होता था।[1] सातवीं शती के बाद काली के अतिरिक्त लाल, नीली, हरी, पीली, सुनहरी और चाँदी की स्याही का प्रयोग भी होने लगा था।

ताड़पत्र, भोजपत्र, कपड़ा और चर्म पत्रादि पर लिखने के काम आने वाली स्याही में भी भिन्नता होती थी। 'स्याही' के प्रयोग की प्राचीनता का बोध 9वीं शती के पुष्पदन्त विरचित महिम्नःस्तोत्र के श्लोक से लगाया जा सकता है -

असितगिरिसमं स्यात् कज्जलं सिन्धुपात्रे,
सुरतरुवरशाखा-लेखनी पत्रमुर्वी।
लिखति यदि गृहीत्त्वा शारदा सर्वकालं,
तदपि तव गुणानमीश पारं न याति॥

बाद में, इसी बात को मध्यकाल के किसी कवि ने इस प्रकार कहा है -

धरती सब कागद करों, लेखनी सब वनराय।
सात समंद की मसि करों, हरि गुण लिखा न जाय।

भारतीय पाण्डुलिपियों को देखने से पता चलता है कि स्याही या मेला (मेल से बनी) का रंग बहुत पक्का होता था। तरह-तरह की स्याही बनाने के नुस्खे प्रचलित थे। मुनि पुण्यविजयजी ने अपने ग्रंथ 'भारतीय जैन श्रमण संस्कृति अने लेखन कला' के पृ. 38 पर अनेक ऐसे नुस्खों का विवरण दिया है। मुख्य रूप से काली स्याही बनाने में नीम का गोंद, काजल, नियाजल को जल में एक साथ ताँबे के पात्र में घोट कर तैयार किया जात था। इस प्रकार स्याही बनाने की भी अनेक विधियाँ प्रचलित थीं।

16. स्याही बनाते समय की सावधानियाँ एवं निषेध

जितना काजल उतना बोल, ते थी दूणा गूंद झकोल।
जे रस भांगरानो पड़े, तो अक्षरे अक्षरे दीवा जले।

---

1. The Encyclopaedia Americana, (Vol. 18), P. 241

अर्थात् कज्जल, बीजाबोल समान मात्रा में लेकर उनसे दुगुने गोंद को पानी में घोलकर नीम के घोटे से ताम्रपत्र में घुटाई करनी चाहिए। भांगरा डालने से स्याही में चमक आ जाती है। ऐसी स्याही से कागज और कपड़े पर लिखा जा सकता है। स्याही में लाक्षारस या क्षार का प्रयोग भी ठीक नहीं है; क्योंकि इनकी मात्रा की कमी-बेसी स्याही को अच्छा नहीं रहने देती।

स्याही बनाते समय तिल के तेल का दिया जलाकर काजल तैयार करना चाहिए। गोंद भी नीम या खैर का ही प्रयोग में लेना चाहिए। स्याही में रींगणी डालने से उसमें चमक आ जाती है। ताड़पत्र पर लिखने के लिए लाख, कत्था और लोहकीट की स्याही काम में लेनी चाहिए। ऐसी स्याही का कपड़े और कागज पर प्रयोग नहीं करना चाहिए। कच्ची और पक्की स्याही के कारण कुछ पाण्डुलिपियाँ प्राचीन होने पर भी नई लगती हैं, और कुछ नई होने पर भी गंदी और धूमिल हो जाती हैं। पाण्डुलिपियों को बाँध कर रखते समय भी यह ध्यान रखना चाहिए कि प्रतियाँ अलग-अलग कागजों में लपेट कर रखनी चाहिए। इसके बाद कार्डबोर्ड के समाकृति गत्तों में प्रति को रख कर बाँधना चाहिए।

17. अन्य प्रकार की स्याहियाँ

(1) रंगीन स्याही - भारत में काली स्याही के बाद अन्य अनेक प्रकार की स्याहियों का विवरण भी मिलता है। काली के बाद सर्वाधिक प्रयोग में आने वाली लाल स्याही थी। लाल स्याही के दो प्रकार थे - (1) अलता निर्मित (2) हिंगलू निर्मित। इसके प्रयोग के संबंध में डॉ. गौरीशंकर हीराचन्द ओझा का कथन है कि - "हस्तलिखित वेद की पुस्तकों में स्वरों के चिह्न और सब पुस्तकों के पन्नों पर की दाहिनी और बायीं ओर की हाशिये की दो-दो खड़ी लकीरें अलता या हिंगलू से बनी हुई होती हैं। कभी-कभी अध्याय की समाप्ति का अंश एवं 'भगवानुवाच', 'ऋषिरुवाच' आदि वाक्य तथा विरामसूचक खड़ी लकीरें लाल स्याही से बनाई जाती हैं। ज्योतिषी लोग जन्म-पत्र तथा वर्षफल के लम्बे-लम्बे खरड़ों में खड़े हाशिये, आड़ी लकीरें तथा भिन्न-भिन्न प्रकार की कुण्डलियाँ लाल स्याही से ही बनाते हैं।"[1] इस प्रकार काली के बाद लाल स्याही का ही प्रयोग होता था। फिर तो लाल के बाद नीली, हरी और पीली स्याही

1. भारतीय प्राचीन लिपिमाला, पृ. 156

का उपयोग भी बढ़ गया। अशुद्धियों को मिटाने के लिए पीली हड़ताल का प्रयोग भी होता था।

(2) सोने-चाँदी की स्याही (सुनहरी एवं रूपहरी) : पाश्चात्य एवं भारतीय प्राचीन ग्रंथों में सुनहरी एवं रूपहरी स्याही का उपयोग देखने को मिलता है। ये स्याहियाँ सोने-चाँदी के वर्कों से बनती थीं। प्राय: इन स्याहियों का प्रयोग चित्र-सज्जा में अधिक होता था। 15वीं शती का 'यंत्रावचूरि' नामक ग्रंथ चाँदी की स्याही में ही लिखा गया था। 200-250 वर्ष प्राचीन रचनाएँ, जो अलंकरण एवं चित्रों से सुसज्जित थीं, हमें भी देखने को मिली थी।

(3) अष्टगंध एवं यक्षकर्दम की स्याही : प्राचीनकाल से ही अनुष्ठानादि एवं तांत्रिक ताबीज आदि बनाने के लिये अष्टगन्ध एवं यक्षकर्दम का प्रयोग किया जाता था। मुनि पुण्यविजयजी ने 'अष्टगन्ध' की स्याही की दो विधियाँ बताई हैं -

(1) अगर, तगर, गोरोचन, कस्तूरी, रक्तचन्दन, चन्दन, सिंदूर और केसर को मिलाकर बनाई जाती है, जिसका भोजपत्र पर लिखने में उपयोग होता है।

(2) कपूर, कस्तूरी, गोरोचन, सिंदरफ, केसर, चन्दन, अगर एवं गेहूला को मिलाकर बनाते हैं।

इनके अतिरिक्त 'यक्षकर्दम' में 11 वस्तुएँ मिलाई जाती हैं - चन्दन, केसर, अगर, बराग, कस्तूरी, मरचकंकोल, गोरोचन, हिंगलो, रतंजणी, सोने के वर्क एवं अंबर को मिलाकर बनाई जाती हैं।

18. चित्र-रचना और रंग

पाण्डुलिपियों में चित्र-रचना की परम्परा बहुत पुरानी है। सचित्र पाण्डुलिपि उस हस्तलिखित पुस्तक को कहते हैं, जिसके पाठ को विविध चित्राकृतियों से सजाया गया हो और सुन्दर बनाया गया हो।[1] यह सज्जा सुनहरी या रूपहरी स्याही से की जाती थी। पश्चिम में 14वीं शती से ऐसी चित्र-सज्जा का उल्लेख मिलता है। हमारे देश में 11वीं से 16वीं शती तक बने अपभ्रंश शैली के चित्र पाण्डुलिपियों में मिलते हैं। मुख्यत: ये चित्र जैन-धर्म-संबंधी पोथियों में बीच-बीच में छोड़े हुए चौकोर स्थानों में बने हुए मिलते हैं। इनमें पीले और लाल रंगों का अधिक प्रयोग हुआ है।

1. Encyclopaedia Americana, Vol. 18, P. 242

डॉ. रामनाथ का यह कथन पठनीय है - "गुजरात के पाटन नगर में भगवती-सूत्र की एक प्रति 1062 ई. की प्राप्त हुई है। इसमें केवल अलंकरण किया गया है। चित्र नहीं हैं। ---- सबसे पहली चित्रित कृति ताड़पत्र पर लिखित निशीथचूर्णि नामक पाण्डुलिपि है जो सिद्धराज जयसिंह के राज्यकाल में 1100 ई. में लिखी गई थी और अब पाटन के जैन भण्डार में सुरक्षित है। इसमें बेल-बूटे और कुछ पशु आकृतियाँ हैं। 13वीं शताब्दी में देवी-देवताओं के चित्रण का बाहुल्य हो गया। अब तक ये पोथियाँ ताड़पत्र की होती थीं। 14वीं शताब्दी से कागज का प्रयोग हुआ।"[1] 14वीं शती में लिखे गए जैन धर्म ग्रंथ प्राय: सचित्र ही लिखे जाते थे। दक्षिण भारत में 980 ई. की 'पाल शैली' में लिखित बौद्धधर्म विषयक पाण्डुलिपि भी मिली है। धीरे-धीरे चित्रकला लौकिक रूप ग्रहण करने लगी। अनेक प्रेमगाथा-विषयक रचनाएँ लौकिक शैली में लिखी जाने लगीं। इनमें विविध रंगों एवं स्याहियों का प्रयोग होने लगा था।

19. चित्रलिखित पाण्डुलिपियों का महत्त्व

सचित्र पाण्डुलिपियाँ निम्नलिखित कारणों से महत्त्वपूर्ण मानी जाती हैं -

(1) ऐतिहासिक महत्त्व : सचित्र पाण्डुलिपियों से विभिन्न कालखण्डों में मानव अपनी अनुभूतियों को किन-किन रंगों और चित्रों में अभिव्यक्त करता था। इससे सांस्कृतिक परिवेश भी उजागर होता था।

(2) अलंकरण कला का इतिहास : सचित्र पाण्डुलिपियों से अलंकरण कला के इतिहास को समझने में सहयोग मिलता है।

(3) चित्रकला की प्रवृत्तियाँ एवं स्वरूप का अध्ययन।

20. काव्यकला और चित्रकला

कविता और चित्रकला का चोली-दामन का साथ है। ये दोनों ललित कलाएँ एक दूसरे की पूरक हैं। कभी-कभी काव्य-पंक्ति को चित्र के द्वारा स्पष्ट किया जाता है तो कभी चित्र के भाव को काव्य-पंक्ति से स्पष्ट किया जाता था। रीति-कवि बिहारी की सचित्र 'सतसई' का बड़ा महत्व है। इसी प्रकार बारहमासा और षड्ऋतुपरक काव्यों में भी सुन्दर-सुन्दर प्राकृतिक चित्र देखने को मिलते हैं।

1. मध्यकालीन भारतीय कलाएँ और उनका विकास, पृ. 6-7

विष्णुधर्मोत्तर पुराण एवं भोजकृत 'समराँगण-सूत्रधार' नामक रचनाओं में चित्रकर्म के आठ अंगों का वर्णन मिलता है। वे इस प्रकार हैं -

(1) वर्तिका - बरता या पेंसिल।

(2) भूमि बन्धन - लेख का आधार, जैसे - काष्ठ पट्टिका, ताड़पत्र, भोजपत्र, कपड़ा, कागज)

(3) लेख्य या लेप्य कर्म - चित्र के लिए पृष्ठभूमि का लेपन या आलेखन।

(4) रेखाकर्म - (खाका) कूँची से रेखांकन कर चित्र का प्रारूप तैयार करना।

(5) वर्णकर्म - रंग भरना; लाल, पीला, हरा आदि रंग काम में लिए जाते थे।

(6) वर्तनीकर्म - वर्तनी या कूँची से रंगों के हल्के या भारीपन को ठीक किया जाता है।

(7) लेखकर्म - चित्र में किया जाने वाला अन्तिम रेखांकन।

(8) द्विककर्म - कभी-कभी मूलरेखा को अधिक स्पष्ट करने के लिए रेखा को दोहरा बना दिया जाता था।

21. पाण्डुलिपि-रचना में प्रयुक्त अन्य उपकरण

(1) रेखापाटी : इसे समासपाटी या कांबी भी कहा जाता है। समानान्तर रेखाएँ खींचने के लिए रेखापाटी का प्रयोग किया जाता है। यह एक लकड़ी की पट्टी होती है। डोरियाँ लपेट कर और स्थिर कर समानान्तर रेखाएँ बनाई जाती हैं, जिस पर लिप्यासन (कागज) रख कर दबाने से रेखाएँ उभर जाती हैं।

(2) डोरा-डोरी : ताड़पत्र की पाण्डुलिपि के बीचों-बीच छेदकर एक डोरा पिरो दिया जाता था। इससे सभी पत्र व्यवस्थित रहते थे। बाद में कागज की पाण्डुलिपियों में यद्यपि डोरा नहीं डाला जाता था, परन्तु बीच में चौकोर जगह छोड़ने की परम्परा बन गई थी।

(3) ग्रंथि : पाण्डुलिपि की सुरक्षार्थ, उसे डोरी या डोरे से सूत्रबद्ध करके, ग्रंथ के आकार की काष्टपट्टिकाओं में छेद कर, उनमें से पिरोया जाकर दोनों ओर गाँठ लगाई जाती थी। इन डोरों को काठपाटी से निकाल कर ग्रंथि या गाँठ

देने के लिए विशेष प्रणाली अपनाई जाती थी - लकड़ी, हाथीदाँत या नारियल का टुकड़ा लेकर उसे गोल चपटी-चकरी बना लेते थे। फिर उसमें छेद कर डोरी पिरो कर बाँधी जाती थी। इससे यह चकरी ही ग्रंथि या गाँठ कहलाती थी।

(4) हड़ताल : अशुद्ध लेखन को मिटाने के लिए हड़ताल फिरा दिया जाता था। इससे पीली स्याही भी बनाई जाती थी।

(5) परकार : पाण्डुलिपि की समाप्ति पर स्याही से कमल आदि बनाने की परम्परा रही है। सूक्ष्म गोले की आकृति बनाने के लिए परकार की सहायता ली जाती है। ❑

अध्याय 2

पाण्डुलिपि-प्राप्ति के प्रयत्न और क्षेत्रीय अनुसंधान

पाण्डुलिपिविज्ञान का प्रारंभ पाण्डुलिपि प्राप्ति के प्रयत्नों से प्रारम्भ होता है। पाण्डुलिपिविज्ञान में ये प्रयत्न ही 'क्षेत्रीय अनुसंधान' की आधारशिला होते हैं। क्षेत्रीय अनुसंधान सामान्यतः दो स्तरों पर किया जाता है -

(अ) पुस्तकालय स्तर पर : पुस्तकालय स्तर पर क्षेत्रीय अनुसंधानकर्ता को तीन प्रकार के पुस्तकालयों से सम्पर्क करना पड़ता है -

(क) धार्मिक : ये पुस्तकालय धार्मिक मंदिरों, मठों, विहारों में स्थित होते हैं।

(ख) शासकीय : ये पुस्तकालय राज्य-शासन द्वारा परिचालित होते हैं। प्राचीन राजा-महाराजाओं के द्वारा संचालित पुस्तकालय इसी श्रेणी में आते हैं। आजकल के प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान भी इसी श्रेणी में आते हैं।

(ग) विद्यालीय : ये पुस्तकालय प्रायः सार्वजनिक विद्यालयों - महाविद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों में होते हैं।

(ब) निजी स्तर पर : पाण्डुलिपि प्राप्त करने का दूसरा क्षेत्र निजी होता है। हमारे देश में प्राचीनकाल से ही पाण्डुलिपियों-पोथियों के प्रति अपार श्रद्धा रही है। परिणामस्वरूप घर-घर में हस्तलिखित ग्रंथों का होना गौरव और प्रतिष्ठापूर्ण माना जाता रहा है। यहाँ तक कि पोथियों की पूजा की जाती है। अनेक ऐसे मत या सम्प्रदाय रहे हैं, जहाँ 'गुरुवाणी' की ही पूजा-अर्चना की जाती है। पाण्डुलिपियों की खोज या अनुसंधान की दृष्टि से बीसवीं शती अत्यधिक

महत्वपूर्ण रही है। इस महायज्ञ में काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने 1900 ई. से ही अपना योगदान प्रारंभ कर दिया था। विशेष रूप से हिन्दी-साहित्य का इतिहास तो इसी क्षेत्रीय-अनुसंधान की नींव पर खड़ा किया गया था, जिसमें उत्तरोत्तर वृद्धि होती रही है।

हस्तलिखित ग्रंथों, निजी ग्रंथागारों की दृष्टि से राजस्थान और गुजरात अत्यधिक धनी क्षेत्र रहे हैं। इसका बहुत-सा श्रेय जैन-ग्रंथागारों को जाता है। राजस्थान के अजमेर, बीकानेर, जोधपुर, उदयपुर, जयपुर, अलवर, टोंक आदि स्थानों के निजी-पुस्तकालयों का अत्यधिक महत्व रहा है। गुजरात में अहमदाबाद और पाटन के निजी पुस्तकालय भी महत्वपूर्ण रहे हैं। बिहार में 'खुदाबक्स पुस्तकालय' प्रारम्भ में निजी पुस्तकालय ही था, अब वह सार्वजनिक पुस्तकालय कहलाता है, जहाँ लगभग 15,000 पाण्डुलिपियाँ स्थित हैं। इसी प्रकार बिहार के ही भरतपुरा गाँव के श्री गोपालनारायणसिंह का संग्रहालय भी निजी ही था, जहाँ 4000 पाण्डुलिपियाँ सुरक्षित थीं। सन् 1912 ई. में यह पुस्तकालय सार्वजनिक हो गया। राजस्थान में अजमेर के सेठ कल्याणमल ढड्ढा एवं बीकानेर के सेठ अगरचंद नाहटा के पुस्तकालय भी निजी क्षेत्र में मूल्यवान एवं प्राचीन पाण्डुलिपियों से सम्पन्न रहे हैं। वर्तमान में तो अनेक शोधकर्ताओं ने अपने-अपने निजी संग्रह बनाने शुरू कर दिये हैं। आज भी राजस्थान में यदि पूरी पड़ताल की जाये तो घर-घर में बस्ते-बुगचों में अनेक अज्ञात प्राचीन पाण्डुलिपियाँ अपने उद्धार की आशा में किसी न किसी क्षेत्रीय अनुसंधानकर्ता की प्रतीक्षा में हैं।

1. अनुसंधानकर्ता

पाण्डुलिपिविज्ञान की दृष्टि से क्षेत्रीय-अनुसंधान का पूरा श्रेय अनुसंधानकर्ता को जाता है। वस्तुतः वह पाण्डुलिपिविज्ञान की धुरी है। ऐसे अनुसंधानकर्ता तीन प्रकार के होते हैं -

प्रथम प्रकार के अनुसंधानकर्ता उच्चकोटि के विद्वान होते हैं, जो ऐतिहासिक, पुरातात्विक एवं हस्तलिखित सामग्री संकलन में व्यस्त रहते हैं। ऐसे विद्वानों में कर्नल टॉड, हार्नले, स्टेन कोनो, वेडेल, टेसिटरी, आरेल स्टाइन, डॉ. ग्रियर्सन, महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री, डॉ. गौरीशंकर हीराचंद ओझा, काशी प्रसाद

जायसवाल, मुनि पुण्यविजयजी, मुनि जिनविजय जी, डॉ. राहुल सांकृत्यायन, डॉ. रघुवीर, डॉ. भण्डारकर, डॉ. व्हूलर, अगरचंद नाहटा, डॉ. भोगीलाल सांडेसरा, डॉ. पीताम्बर बडथ्वाल, भाष्कर रामचन्द्र भालेराव आदि के नाम लिए जा सकते हैं। ये विद्वान पाण्डुलिपि के सम्बंध में स्वयं निर्णय लेते थे, क्योंकि ये अपने विषय के विद्वान होते थे।

दूसरे प्रकार के अनुंसधानकर्ता को खोजकर्ता या एजेण्ट कहा जा सकता है। ये किसी व्यक्ति या संस्था की ओर से पाण्डुलिपियों की विवरण सहित खोज रिपोर्ट प्रस्तुत करते हैं। इन्हें उस क्षेत्र-विशेष की जानकारी भी देनी होती है, जहाँ से और जिससे पाण्डुलिपियाँ प्राप्त हुई हैं।

तीसरे प्रकार के अनुसंधानकर्ता व्यावसायिक वृत्ति के होते हैं। वे प्राय: पाण्डुलिपियों के महत्व को स्वीकारते हुए इतस्त: क्षेत्र में जाकर पाण्डुलिपि संबंधी जानकारी एकत्र कर विशिष्ट विद्वानों से उनके महत्व की जानकारी प्राप्त कर कुछ लाभ प्राप्त करने के लिए उनका संग्रह करते हैं और फिर समय-समय पर उन्हें बेचते रहते हैं। कभी-कभी इस वृत्ति के अनुसंधानकर्ताओं के माध्यम से हमारे देश की विपुल-महत्वपूर्ण पाण्डुलिपियाँ विदेशों में चली जाती हैं।

2. क्षेत्रीय अनुसंधानकर्ता के गुण

एक कुशल अनुसंधानकर्ता में क्या-क्या गुण या खूबियाँ होनी चाहिए, इस संबंध में डॉ. सत्येन्द्र कहते हैं -

''इसके लिए ग्रंथ-खोजकर्ता में साधारण तत्पर बुद्धि होनी चाहिए, उसमें समाजप्रिय या लोकप्रिय होने के गुण चाहिए। उसमें विविध व्यक्तियों के मनोभावों को ताड़ने या समझने की बुद्धि भी होनी चाहिए जो साधारण बुद्धि का ही एक पक्ष है। फिर, उसके पास कोई ऐसा गुण (हुनर) भी होना चाहिए जिससे वह दूसरों की कृतज्ञता पा सके। जहाँ ग्रंथों की टोह लगे वहाँ के लोगों का विश्वास पा सकने की क्षमता भी होना अपेक्षित है। विश्वासपात्रता प्राप्त करने के लिए उस क्षेत्र में प्रभाव रखने वाले व्यक्तियों से परिचय-पत्र ले लेने चाहिए। ऐसे क्षेत्रों में मुखिया, पटवारी, जमींदार या पाठशाला के अध्यापक अपना-अपना प्रभाव रखते हैं। इन व्यक्तियों से मिलकर हम अच्छी तरह ग्रंथों का पता भी लगा सकते हैं तथा सामग्री भी जुटा सकते हैं। ज्योतिष या हस्तरेखा विज्ञान और वैद्यक

की कुछ जानकारी ग्रंथ-खोजकर्ता को सहायक सिद्ध हुई है। इनके कारण लोग उसकी ओर सहज रूप से आकृष्ट हो सकते हैं। इसी प्रकार पशु-चिकित्सा का कुछ ज्ञान हो तो क्षेत्रीय कार्य में उपयोगी होगा तथा दैनिक जीवन में काम आने वाली ऐसी अन्य चीजों को यदि वह जानता है, जिनके न जानने से मनुष्य दु:खी रहते हैं तो वे उसकी सहायता करने के लिए सदा प्रस्तुत रहेंगे। व्युत्पन्नमति और तत्पर बुद्धि भी बड़ी सहायक सिद्ध हुई है।'[1]

इनके अतिरिक्त प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक का यह अनुभव रहा है कि ज्योतिष, हस्तरेखा और कुछ सामाजिक-नैतिक कहानी-किस्सों का ज्ञान भी पाण्डुलिपि अनुसंधानकर्ता को हस्तलिखित ग्रंथ प्राप्त करने में बड़ा सहायक सिद्ध होता है। उसे एक चरित्रवान, आदर्श, धैर्यवान, विश्वसनीय एवं भले इन्सान के रूप में अपने-आपको प्रस्तुत करना चाहिए।

पाण्डुलिपियों के संग्रह करने के दो कारण स्पष्ट हैं - 1. सामान्य, 2. साभिप्राय। सामान्य कारण तो स्पष्ट है ही। साभिप्राय खोज में किसी विशेष पाण्डुलिपि की प्रतिलिपियों की खोज की जाती है। इसमें बड़े धैर्य की आवश्यकता है। एक कड़ी से दूसरी कड़ी मिलाते हुए ही खोजकर्ता अभिप्सित पाण्डुलिपि तक पहुँच पाता है। डॉ. सत्येन्द्र कहते हैं कि इस प्रकार की खोज में सूत्र से सूत्र मिलाने में भी कितने ही अनुमान और उनके आधार पर कितने ही प्रकार के प्रयत्नों की अपेक्षा रहती है। बड़े धैर्यपूर्वक एक के बाद दूसरे अनुमान करके उनसे सूत्र मिलाने के प्रयत्न किये जाते हैं।[2]

3. क्षेत्रीय अनुसंधानकर्ता का करणीय

उपर्युक्त गुणों से युक्त अनुसंधानकर्ता को चाहिए कि वह एक अनुसंधान डायरी, पैन, फुटा, रबर आदि अपने पास रखे। इस डायरी में क्षेत्रीय-कार्य का दैनिक विवरण लिखना चाहिए। उदाहरण के लिए - जिस गाँव या कस्बे में वह जाये उसका नाम, उस व्यक्ति का नाम जिसके पास पाण्डुलिपियाँ उपलब्ध हैं, उसकी जाति एवं सामान्य वंश-परिचय के साथ उस घर में ग्रंथ-विशेष की उपस्थिति का विवरण भी दें। इस यात्रा के दौरान कितने ग्रंथ देखे? कितने बँधे

1. पाण्डुलिपि विज्ञान : डॉ. सत्येन्द्र, पृ. 68-69
2. वही, पृ. 70

हुए (वेष्टन) थे और कितने खुले पत्रों में थे? रचनाकार एवं लिपिकर्ता का परिचय तथा रचनाकाल या लिपिकाल आदि उसे डायरी में लिखने चाहिए।

इसके बाद अनुसंधानकर्ता के व्यवहार आदि के अनुसार उसे प्राप्त ग्रंथों को प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए। कोशिश इस बात की करनी चाहिए कि ग्रंथ दान या भेंट में निर्मूल्य मिल जाये। लेकिन यदि कोई बहुमूल्य पाण्डुलिपि ले-देकर भी लेनी पड़े तो उसे प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए। किसी पाण्डुलिपि के मूल्य का निर्धारण करते समय उसका रचनाकाल, लिपिकाल, वर्णित-विषय का महत्व, लेखन-शैली की विशेषता, चित्र, अलंकरण, कागज, स्याही आदि की उत्कृष्टता का भी ध्यान रखना चाहिए। मूल्य देकर खरीदी गई पुस्तक का एक प्रमाण-पत्र भी विक्रेता से प्राप्त कर लेना चाहिए, ताकि उस पुस्तक के चोरी की होने या चोरी होने की अवस्था में वह प्रमाण-पत्र काम आ सके। उस ग्रंथ का पूर्ण विवरण भी अपने पास रखना चाहिए।

4. प्राप्त पाण्डुलिपि का विवरण

क्षेत्रीय अनुसंधान में किसी भी पाण्डुलिपि का विवरण दो दृष्टियों से लेना चाहिए : प्रथम - बहिरंग विवरण, दूसरे - अन्तरंग विवरण।

(1) बहिरंग विवरण : इसके अन्तर्गत, सर्वप्रथम ज्योंहि ग्रंथ आपके हाथ में आता है उसके आकार-प्रकार पर निगाह पड़ती है। अत: ग्रंथ का आकार क्या है? कितने पृष्ठ हैं? लिखे एवं रिक्त पृष्ठ कितने हैं? पृष्ठों की लम्बाई, चौड़ाई और दाएँ-बाएँ के हाशिए कितने और कैसे हैं? स्याही का रंग क्या है? छन्द संख्या कितनी है? कृति पूर्ण है या अपूर्ण है। प्रति पृष्ठ कितनी पंक्तियाँ हैं और प्रति पंक्ति कितने शब्द हैं? ग्रंथ का कागज कैसा है? आदि जानकारियाँ बहिरंग विवरण में लिखी जानी चाहिए।

(2) अंतरंग : अन्तरंग की दृष्टि से अनुसंधानकर्ता को यह देखना चाहिए कि क्या रचना के आदि (प्रारंभ) में रचनाकार ने किसी देवता, राजा, गुरु या इष्टदेव की स्तुति की है? क्या रचनाकाल-सूचक कोई सूचना भी दी गई है? यद्यपि ग्रंथ के अंत में पुष्पिका में रचना या लिपिकाल देने की परम्परा है, फिर भी किसी-किसी ग्रंथ के आदि में भी ये सूचनाएँ मिल जाया करती हैं। यदि प्रस्तुत ग्रंथ, मूलग्रंथ की प्रतिलिपि है तो भी, वह रचना, भाषा-विज्ञान एवं पाठालोचन

विज्ञान की दृष्टि से महत्वपूर्ण हो सकती है। इसके बाद ग्रंथ-भाषा; प्रयुक्त-छन्द, छन्दों की संख्या और ग्रंथ के विषय का विवरण एवं पुष्पिका में अंकित लिपिकाल, तिथि, वार आदि का विवरण भी लेना आवश्यक है। यदि अनुसंधानकर्ता प्रबुद्ध है तो उसे उस पाण्डुलिपि का काव्य-रूप-प्रबन्ध, मुक्तक आदि और शैली का ब्यौरा भी देना चाहिए। पाण्डुलिपि में यदि लिखावट का भेद देखने में आता है तो उसे भी अंकित करना अपेक्षित है।

5. पाण्डुलिपि-विवरण-प्रस्तुतीकरण-प्रारूप

क्षेत्रीय अनुसंधानकर्ता जब क्षेत्र-विशेष में पाण्डुलिपियों तक पहुँच जाता है तब उसे प्राप्त पाण्डुलिपियों का व्यवस्थित विवरण तैयार करना चाहिए। हमारे देश में समय-समय पर पाण्डुलिपियों की जो खोज रिपोर्ट प्रस्तुत हुई हैं, उनमें अनुसंधानकर्ताओं ने जिस पद्धति या प्रारूप का अनुसरण किया है उनमें से कुछ के विवरण प्रस्तुत करने के स्वरूप की बानगी यहाँ प्रस्तुत करना चाहेंगे। रचना का नाम 'कुब्जिकामतम्'।

(1) महामहोपाध्याय हर प्रसाद शास्त्री की पद्धति[1] : सन् 1898-99 में शास्त्री जी ने एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल के लिए नेपाल के दरबार पुस्तकालय के हस्तलिखित ग्रंथों का विवरण प्रस्तुत करते हुए जिस पद्धति का अनुसरण किया उसका नमूना देखिए —

(क) (29/कां) - ग्रंथ की पुस्तकालयगत संख्या

(ख) कुब्जिकामतम् (कुलालिकाम्नायान्तर्गतम्) - पुस्तक का नाम उसकी उपव्याख्या सहित

(ग) $10\times1^{1}/_{2}$ inches - पुस्तक का आकार बताने के लिए पृष्ठ की लम्बाई 10" और चौड़ाई $1^{1}/_{2}$" है।

(घ) Folio. 152 - पृष्ठ संख्या बताई गई है।

(ङ) Lines 6 on a page - प्रत्येक पृष्ठ में पंक्ति संख्या कितनी है।

(च) Extent 2,964 slokas - पाण्डुलिपि परिमाण कुल श्लोक संख्या।

1. Shastri, H. P. - A Catalogue of palm leaf and selected papers MSS belonging to the Darbar Library, Nepal - पाण्डुलिपिविज्ञान : डॉ. सत्येन्द्र, पृ. 72-73 से साभार।

(छ) Charactor-Newari - लिपि प्रकार।

(ज) Date. Newar Era 229 - तिथि-संवत् का उल्लेख।

(झ) Appearence - old - रूप का विवरण - यह प्रति देखने में प्राचीन लगती है।

(ञ) Verse - रचना पद्यबद्ध है।

Beginning ॐ नमो महाभैरवाय

संकर्ता मण्डलान्ते क्रमपदनिहितानन्दशक्तिः सुभीमा।
शृष्टक्षाढ्यं चतुष्कं अकुलकुलनतं पंचकं चान्यषट्कम्॥ १॥

Colophon - इति कुलालिका भांये श्रीमत् कुब्जिकामते समस्त स्थानावबोधश्चर्य्या निर्देशो (2) नाम पंचविंशतिमः पटल समाप्तः। संवत् 299 फाल्गुन कृष्णा।

विषय ... (1 से 25 पटल तक के)

इस प्रकार समस्त सूचनाओं के देने के बाद ग्रंथ के आदि और अन्त के कुछ अंश के उदाहरण भी दिये गये हैं। इसके बाद Colophon (पुष्पिका) देकर विषय-सूची भी दे दी गई है।

(2) डॉ. एल. पी. टेसिटरी की पद्धति : सन् 1914 ई. में डॉ. टेसिटरी को एशियाटिक सोसायटी ऑव बंगाल ने 'वारडिक एण्ड हिस्टोरीकल सर्वे ऑव राजपूताना' का सुपरिंटेंडेण्ट बनाया। उनकी यह सर्वेक्षण रिपोर्ट सन् 1917-18 के मध्य प्रकाशित हुई। उस रिपोर्ट के ग्रंथांक 6 के विवरण का अनुवाद इस प्रकार है —

ग्रंथांक-6 — नागौर के मामले री बात नै कविता

गुटके के रूप में छोटा-सा ग्रंथ, पत्र 132, आकार $5" \times 5\frac{1}{2}"$, पृ. 21 ब-26 ब, 45 ब - 96 ब तथा 121 ब - 132 ब खाली हैं। लिखित पत्रों में से 13 से 27 अक्षरोंवाली 7 से 16 तक पंक्तियाँ हैं। पृ. 100-125 पर साधारण (नौसिखिए के बनाए चित्र) चित्र पानी के रंगों में 'रसूल रा दूहा' को चित्रित करने के लिए बनाए गए हैं। ग्रंथ कोई 250 वर्ष पुराना लिपिबद्ध है। पृ. 7 ब पर लिपिकाल

सं. 1696 जेठ सुद 13 शनिवार और लेखक का नाम रघुनाथ दिया गया है। लिपि मारवाड़ी है और ड तथा ङ में भेद नहीं किया गया है। ग्रंथ में निम्न कृतियाँ हैं -

(क) परिहाँ दूहा वगैरे फुटकर वातां, पृ. 1 अ - 11 ब।

(ख) नागौर रै मामलै री कविता, पृ. 12 अ - 21 अ (इसमें तीन प्रशस्ति कविताएँ हैं)।

(ग) नागौर रे मामलै री बात, पृ. 27 अ - 45 ब।

प्रारम्भ का अंश : बीकानेर महाराजा श्री करनीसिंह जी रै राज ने नागौर राउ अमरसिंह गजसिंघौत रो राज सु नागौर बीकानेर रो कांकड़ गांव (०)। जाषपीयो सु गांव बीकानेर रो हुतो ने नागौर रा कहे नु गांव माहरो द्वीवहीज असरचो हुतो ..... आदि।

अन्त का अंश : इसड़ो काम मुहते रामचन्द्र नु फबीयो बड़ो नांव हुयो पातसाही माहे बदीतो हुवो इसड़ो बीकानेर काही कामदार हुयो न को हुसी।

इस विवरण में डॉ. टैसिटरी ने ग्रंथ के आकार को बताने के लिए ही इसे गुटका कहा है। इसके साथ ही वेस्टन का भी उल्लेख करते हैं - "394 पत्रों का चमड़े की जिल्द में बंधा वृहदाकार ग्रंथ। और फिर सभी विवरण डॉ. शास्त्री जैसा ही। हाँ, चित्रों के सम्बंध में अतिरिक्त जानकारी दी गई है।

(3) डॉ. मोतीलाल मेनारिया की पद्धति : 'राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज' प्रथम भाग के पृ. 64-65 पर डॉ. मेनारिया 'पृथ्वीराज रासौ' की एक प्रति का विवरण निम्न प्रकार प्रस्तुत करते हैं -

(क) प्रति सं. 5, (ख) साइज 10×11 इंच, (ग) (1) पुस्तकाकार, (2) अपूर्ण, (3) बहुत बुरी दशा में।

(घ) इसके आदि के 25 और अन्त के कई पत्रे गायब हैं जिससे आदि पर्व के प्रारंभ के 67 रूपक और अन्तिम प्रस्ताव (वाणवेध सम्यों) के 66वें रूपक के बाद का समस्त भाग जाता रहा है। इस समय इस प्रति के 786 (26-812) पत्रे मौजूद हैं। बीच में स्थान-स्थान पर पत्रे कोरे रखे गये हैं जिनकी संख्या कुल मिलाकर 25 होती है। प्रारंभ के 25 पत्रों के नष्ट हो जाने से इस बात का अनुमान तो लगाया जा सकता है कि अन्त में भी इतने ही पत्रे गायब हुए हैं।

(ङ) (1) पर अन्त के इन 25 पत्रों में कौन-कौन से प्रस्ताव लिखे हुए थे, इनमें कितने पत्रे खाली थे; इस प्रति को लिखवाने का काम कब पूरा हुआ था और (2) यह किसके लिए लिखी गई थी? इत्यादि बातों को जानने का इन पत्रों के गायब हो जाने से अब कोई साधन नहीं है। लेकिन प्रति एक-दो वर्ष के अल्पकाल में लिखी गई हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता; क्योंकि (च) इसमें नौ-दस तरह की लिखावट है और (छ) प्रस्तावों का भी कोई निश्चित क्रम नहीं है। ज्ञात होता है रासौ के भिन्न-भिन्न प्रस्ताव जिस क्रम से और जब-जब भी हस्तगत हुए वे उसी क्रम से इसमें लिख लिये गये हैं।

(ज) 'ससिव्रता सम्यौ', 'सलष युद्ध सम्य' और 'अनंगपाल सम्यौ' के नीचे उनका लेखन-काल भी दिया हुआ है। ये प्रस्ताव क्रमशः सं. 1770, सं. 1772 और सं. 1773 के लिखे हुए हैं, लेकिन 'चित्ररेखा', 'दुर्गाकेशर' आदि दो-एक प्रस्ताव इसमें ऐसे भी हैं जो कागज आदि को देखते हुए इनसे 25-30 वर्ष पहले के लिखे हुए दिखाई पड़ते हैं।

विभिन्न हाथों की लिखावट के कारण प्रति के सभी पृष्ठों पर पंक्तियों और अक्षरों का परिमाण एकसा नहीं है। किसी पृष्ठ पर 13, किसी पर 15, किसी पर 25 तथा किसी-किसी पर 27 पंक्तियाँ हैं। लिखावट सभी लिपिकारों की सुपाठ्य हैं। पाठ भी अधिकतर शुद्ध ही है। दो-एक लिपिकारों ने संयुक्ताक्षरों के लेखन में असावधानी की है और ख्ख, ग्ग, त्त आदि के स्थान पर ख, ग, त आदि लिख दिया है। इससे कहीं-कहीं छन्दोभंग दिखाई देता है। इस प्रति में 67 प्रस्ताव हैं। उपर्युक्त प्रति संख्या 2 के मुकाबले में इसमें तीन प्रस्ताव (विवाह सम्यौ, पद्मावती सम्यौ और रेणसी सम्यौ) कम और एक (समरसी दिल्ली सहाय सम्यौ) अधिक है।

उदाहरण - सं. 1770 की प्रति के 'ससिव्रता सम्यौ' से।

दूहा - आदि कथा शशिवृत की कहत अब समूल।
दिल्ली वै पतिसाह गृहि कहि लहि उनमूल॥ १॥

अरिल्ल - ग्रीषम ऋतु क्रीडंत सुराजन। षिति उकलत षेह नभ छाजन॥
विषम बाय तप्पित तनु भाजन। लागी शीत सुमीर सुराजन॥

इसकी प्रति मेवाड़ के प्रसिद्ध कवि राव बख्तावर जी के पौत्र श्री मोहनसिंह जी राव के पास है।

(4) डॉ. हीरालाल माहेश्वरी की पद्धति : डॉ. माहेश्वरी ने अपने शोध-प्रबन्ध 'जाम्भोजी, विष्णोई सम्प्रदाय और साहित्य' में हस्तलिखित ग्रंथों का विवरण प्रस्तुत किया। इसके पृ.सं. 41-42 से निम्न उदाहरण प्रस्तुत है -

81 पोथी, जिल्दबंधी (ब, प्रति)। यत्रतत्र खण्डित। एकाधपत्र-अप्राप्त। अपेक्षाकृत मोटा देशी कागज। पत्र सं. 152। आकार 10×7 इंच। हाशिया - दाएँ-बाएँ : पौन इंच। तीन लिपिकारों द्वारा सं. 1832 से 1839 तक लिपिबद्ध। लिपि सामान्यत: पाठ्य। पंक्ति प्रति पृष्ठ।

(क) हरजी लिखित रचनाओं में 23-29 तक पंक्तियाँ हैं।

(ख) तुलछीदास लिखित सबद वाणी में 31 पंक्तियाँ हैं, तथा

(ग) ध्यानदास लिखित रचनाओं में 24-25 पंक्तियाँ हैं। अक्षर प्रति पंक्ति क्रमश: (क) में 18 से 20 तक, (ख) में 24 से 25 तक तथा (ग) में 23 से 25 तक।

गाँव 'मुकाम' के श्री बदरीराम थापन की प्रति होने से इसका नाम ब. प्रति रखा गया है। इसमें ये (14) रचनाएँ हैं - (रचनानाम, रचनाकार एवं छंद संख्या सहित) .....

समत् 1832 मिती जेठ वद 13 लिषते वणिबाल हरजी लिषावतं अतित, रासाजी लालाजी का चेला पोथी गांव जाषांणीया मझे लिषी छै सुभमसतु कल्याणं॥

कथा चतुरदस मे लिखी अरज करूं कर धारि।
घट्य बधि अक्षर जो हुवै। सन्तो ल्यौह सुधारि॥ १॥

(5) हमारी पद्धति[1] : (3) पोथी - 91 पत्रों की इस पोथी का आकार $9^{3}/_{4} \times 6^{3}/_{4}$ इंच है। इस पोथी के लिपिकर्ता महाजन डालू हैं तथा लिपिकाल वि.सं. 1758 तदनुसार सन् 1701 ई. है। पोथी के पत्र सं. 1 से 85 तक 'दशम स्कन्ध

1. शोध-पत्रिका, वर्ष 32/अंक 2, अप्रेल-जून 1981, पृ. 68-72, ब्रजभाषा के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज; डॉ. एम.पी. शर्मा।

भाषा' एवं पत्र सं. 86 से 91 तक 'पंचाध्यायी', नन्ददास कृत लिपिबद्ध हैं। देशी कागज की इस पोथी के प्रत्येक पत्र में 18 पंक्तियाँ एवं प्रत्येक पंक्ति में 20 से 24 तक अक्षर हैं। लिपि सुपाठ्य है। लाल एवं काली स्याही का प्रयोग किया गया है। दोनों रचनाओं के नमूने -

क. श्री दसम स्कंध भाषा : नन्ददास, लिपिकाल 1701 ई.

आदि - श्री राधावल्लभो जयते॥
श्री गुरुभ्यो नमः॥ अथ श्री दसम (स्कंध) नन्ददास कृत लीषते।

दोहा - नव लक्षण करि लक्ष जो दसये आसिरै रूप।
नन्द वन्दि लै प्रथम तिहि श्री कृष्णाक्षि अनूप॥ १॥

चौपाई - परम विचित्र मित्र इक रहै। कृश्न चरित्र सुन्यों सो चहै।
तिन्ह कही दसमसकंध जु आहि। भाषा करि कछु बरननु ताहि॥

× × ×

अन्त - दोहा - अष्टविंसति अध्याइ इह लीला सव सुष कंद।
मुक्तिन मांनि मनि जहाँ फिरि व्रज आए नन्द॥

इति श्री दसम सकंधे भाषा नन्ददासेन कृते अष्टविंसे अध्याई॥ 28॥

पुष्पिका - इति श्री दसम सकंध नन्ददास जी कृत सम्पूर्ण सुभं भवत संवत 1758 के भाद्रपद मांसे सुक्ल पक्षे तिथि एकादशी वार चंद्रवार शुभ पोथी स्वामी जी श्री रामदास जी पठनार्थ लिखतं महाजन डालू चतरा का वेटा सर्व संतनि को सेवग वाचै जिनको जै श्रीकृष्ण बंच्यज्यो पोथी गांव नाथूसर मैं लिखि पूर्ण करी॥

जादृसं पुस्तकं दृष्टवा तादृसं लिखिते मया।
सुधम असुधं वा मम दोषो न दीयते॥

(ख) श्री पंचाध्यायी : नन्ददास कृत, लिपिकाल सन् 1701 ई.

आदि - हरिलीला रस मत्त मुदित निति विचरत जग में।
अद्भुत गति कहुं नहि न अटक व्है निकसै मग में॥ १॥

अंत - अधहरनी मनहरनी सुन्दर प्रेम वितरनी।
श्री नंददास कै कंठ बसौ नित मंगल करनी॥ २०१॥

इति श्री पंचाध्यायी भाषा श्री नंददास विरंचितायां संपूर्णोयं ग्रंथ सुभमस्तु कल्याणमस्तु ॥ सवत् 1758 के असुनि मासे कृष्णपक्षे तिथि 12 वार गुरु संपूरण लिपि पूरन भयो परम गोप्य ग्रंथ अनंत वक्तव्य नांही परम हरिभक्त श्री भागवत मत परायण होय। तिनसौ प्रफूलित होइ कहै तौ अत्यन्त सुष होय।

दोहा - संत सजाती रसिक जन मिलैं उपासिक आइ।
तव इह रतन मंजूसिका षोलिर तू दिखराय॥ १ ॥ श्री ॥

प्राप्ति-स्थान : श्रीराम भवन, पुस्तकालय, कोटपूतली (जयपुर)।

इन पाँच प्रकार की पद्धतियों के अध्ययन से अनुसंधानकर्ता अपना रास्ता आसानी से तय कर सकेगा, ऐसी हमारी मान्यता है।

6. पाण्डुलिपि-विवरण में अन्य अपेक्षित बातें

ये निम्नलिखित हैं - ग्रंथ का 'अतिरिक्त पक्ष' है -

(1) पाण्डुलिपि का रख-रखाव : क्षेत्रीय अनुसंधानकर्ता के हाथ में पाण्डुलिपि आने के बाद उसके रख-रखाव (सुरक्षा) पर दृष्टि जाती है। सुरक्षा की दृष्टि से यह देखना होता है कि वह पाण्डुलिपि किस प्रकार के 'वेस्टन' में सुरक्षित है? वह वेस्टन कागज का है, कपड़े का है, चमड़े का है या किसी अन्य वस्तु का? कभी-कभी पाण्डुलिपि '**वेस्टन**' की बनिस्बत 'पिटक' (पेटी) में रखी मिलती है। वह पिटक धातु का है या काष्ठ का? ग्रंथ की 'जिल्द' कैसी है? जिल्दी कागज, कपड़ा या चमड़े की है, यह भी देखना चाहिए। प्राचीन ताड़पत्रीय ग्रंथ प्राय: 'काष्ठपट्ट' या 'पुट्ठों' में, ऊपर-नीचे लगाकर बाँधकर रखी जाती है। जैनधर्म की शब्दावली में इसे 'कंठिका या कांबी' कहा जाता है। यह कांबी या पट्टिकाएँ डोरी से बाँध कर गाँठ लगाई जाती हैं। देखना यह भी होता है कि डोरी में गाँठ लगाने की ग्रंथियाँ हैं या नहीं। ये ग्रंथियाँ किस वस्तु की और कैसी हैं? यह भी देख लें कि पट्टिकाओं पर चित्रांकन या अलंकरण हो तो उसका भी उल्लेख होना चाहिए।

(2) ग्रंथ का स्वरूप : पाण्डुलिपि का 'स्वपक्ष' है उसका **स्वरूप**। इसमें प्रथम तो यह देखना होता है कि हस्तलिखित ग्रंथ की हालत कैसी है ? हालत बताते समय उसके बाह्य रूप-रंग का परिचय देना होता है। जैसे - ग्रंथ का

कागज गल गया है, तिड़क रहा है, स्याही फैली हुई है, चिकनाई के धब्बे हैं, धूल-मिट्टी जमी है, कीड़े-मकोड़े या दीमक ने खा लिया है आदि। दूसरे, उसके 'आकार-संबंधी' विवरण का उल्लेख भी होना चाहिए। हस्तलिखित ग्रंथों के निम्नलिखित आकार-प्रकार हो सकते हैं - (क) पोथी, (ख) गुटका, (ग) बही, (घ) पोथा, (ङ) खुलेपत्र, (च) पानावली आदि।

(3) लिप्यासन (कागज) : 'लिप्यासन' से अभिप्राय पाण्डुलिपि का आधार होता है। यह लिप्यासन सामान्यत: दो प्रकार - कठोर एवं कोमल - के होते हैं। कठोर लिप्यासनों में मिट्टी की ईंटें, शिलाएँ, धातुएँ आदि आती हैं और इन्हें 'जनक' कहते हैं। क्योंकि इनसे लिप्यासन जन्म लेते हैं। कोमल लिप्यासनों में चर्म, पत्र, छाल, वस्त्र एवं कागज आते हैं और इन्हें 'जनित' कहा जाता है। इनमें भी 'कागज' मानवनिर्मित होने के कारण पूर्णत: 'जनित' है। कागज बनाने में बहुत तरह की सामग्री काम में आती है और उससे कई प्रकार के कागज बनाये जाते हैं। जैसे - देशी कागज, मोटा, पतला, मध्यम मोटा और मशीनी। इनके निर्माण के समय विविध रंगों का प्रयोग कर कागज विविध रंगों में भी बनाये जाते थे। मुनि पुण्यविजयजी के अनुसार हमारे देश में कई जगह कागज बनाने के कारखाने थे, जैसे - काश्मीर, दिल्ली, पटना (बिहार), शाहबाद, कानपुर, घोसुंडा (मेवाड़), अहमदाबाद, खंभात, कागजपुरी (दौलताबाद के पास) आदि जगह। इन जगहों के निर्माण-स्थल के नाम से कागज भी अनेक नामों से जाना जाता था, जैसे - कश्मीरी, मुगलिया, आरवाल, साहेवखानी, खंभाती, अहमदाबादी, शणीआ, दौलताबादी आदि।[1] इनमें कश्मीरी कागज कोमल, चिकना एवं मजबूत माना जाता था। कश्मीरी स्याही की भी तारीफ की जाती थी। कश्मीरी कागज पर लिखित एक हस्तलिखित प्रति 'भाषा योग वाशिष्ठ' की हमें श्री किसनदत्त शर्मा, बहरोड़ (अलवर) के सौजन्य से देखने को मिली थी। उसका कागज एवं लिखावट सुन्दर एवं चित्ताकर्षक थी। ग्रंथविवरण इस प्रकार है[2] -

---

1. भारतीय जैन श्रमण संस्कृति अने लेखन कला, पृ. 29-30।
2. परिषद् पत्रिका, पटना, वर्ष 20, अंक 4, जनवरी, 1981, पृ. 78, पाण्डुलिपियों की खोज : डॉ. महावीर प्रसाद शर्मा (खोज रिपोर्ट)

1. भाषा योग वाशिष्ठ : भाषा संस्कृत। कृति पूर्ण। कुल प्रकरण 10 हैं। लिपिकाल सं. 39 तथा लिपिकर्ता श्री शिवराम ने महादेवगिरि पर कश्मीर में स्वपठनार्थ इस कृति का लिप्यंकन किया था। रचना की पुष्पिका में लिखा है - ''इति श्री सर्व विद्यानिधान कवीन्द्राचार्य सरस्वती विरचितं भाषा योग वाशिष्ठ सारे ज्ञान सारापरनाम्नि तत्व निरूपणं नाम दशमं प्रकरण ॥ 10 ॥ समाप्तोयं ग्रंथ: ॥ संवत् ॥ 39 ॥ कश्मीर मध्ये। शिवराम लिखितं महादेव गिरी पठनार्थे। शुभं भवतुं ॥ निरंजनी ॥''

अकबर के शासनकाल में स्यालकोट में 'मानसिंही' कागज बनाया जाता था। राजस्थान में भी प्राचीन काल से ही कागज बनाने के अनेक कारखाने कार्यरत थे। डॉ. सत्येन्द्र जी कहते हैं -

''राजस्थान में भी मुगलकाल में जगह-जगह कागज और स्याही बनाने के कारखाने थे। जयपुर, जोधपुर, भीलवाड़ा, गोगूंदा, बूंदी, बांदीकुई, टोडाभीम और सवाईमाधोपुर आदि स्थानों पर अनेक परिवार इसी व्यवसाय से कुटुम्ब पालन करते थे। जयपुर और आसपास के 55 कारखाने कागज बनाने के थे, इनमें सांगानेर सबसे अधिक प्रसिद्ध था और यहाँ बना हुआ कागज ही सरकारी दफ्तरों में प्रयोग में लाया जाता था। 200 से 300 वर्ष पुराना सांगानेरी कागज और उस पर लिखित स्याही के अक्षर कई बार ऐसे देखने में आते हैं मानों आज ही लिखे गये हों।''[1] सांगानेरी मोटे कागज को 'पाठा' कहते हैं, जो संभवत: 'पत्र' का ही रूपान्तर है। यह 'स्याही-पाठा' प्राचीनकाल से ही सेठ या पटवारी की लिखापढ़ी का माध्यम रहा है। अत: एक क्षेत्रीय पाण्डुलिपि अनुसंधान करने वाले को कागज के संबंध में कुछ जानकारियाँ रखनी चाहिए, जैसे - कागज का रंग कैसा है? क्या कागज कुरकुरा हो गया है? क्या दीमक, कीड़े-मकोड़ों ने खा रखा है? क्या पूरी पोथी का एक ही प्रकार का कागज है या भिन्न प्रकार का? आदि कागज विषयक समस्त विशेषताओं की जानकारी होनी चाहिए।

इसके बाद 'पन्नों की लम्बाई-चौड़ाई' का माप लेना चाहिए। यह माप 'लम्बाई × चौड़ाई' इंच के रूप में दी जाती है, किन्तु आजकल सेण्टीमीटर में भी दी जाने लगी है। अनुसंधानकर्ता को 'पाण्डुलिपि के रूप विधान' का भी ध्यान रखना चाहिए। इसके लिए सर्वप्रथम पाण्डुलिपि की लिपि को जान लेना

1. पाण्डुलिपिविज्ञान, पृ. 84

आवश्यक है। फिर प्रत्येक पृष्ठ में कितनी पंक्तियाँ हैं? और पूरे ग्रंथ में कितने पत्र हैं? टेसीटरी महोदय प्राय: अपनी खोज रिपोर्ट में कुल पत्रों की संख्या देते थे। साथ ही यह भी देख लेना चाहिए कि समस्त पत्रों की लिखावट एक ही लिपिकर्ता की है या भिन्न लिपिकर्ता की। लिखावट साफ है या अस्पष्ट है या स्याही फूटी हुई है, यह भी देखना चाहिए।

हस्तलिखित ग्रंथ में 'अलंकरण या चित्र-सज्जा' का भी विशेष महत्व है। चित्रों या अलंकरण से सज्जित रचना की कीमत बढ़ जाती है। वह मूल्यवान मानी जाती है। अनुसंधानकर्ता को चित्रों की विषयानुकूलता और उनकी संख्या का उल्लेख भी करना अपेक्षित है। कलात्मकता की दृष्टि से चित्रों का मूल्यांकन भी करने का प्रयास करना चाहिए। चित्रों में प्रयुक्त विविध रंगों का उल्लेख भी करना ठीक रहेगा। ग्रंथ में प्रयुक्त 'स्याही' का विवरण भी देना चाहिए। स्याही के कच्ची-पक्की होने की स्थिति भी दर्शानी चाहिए। प्राय: लाल स्याही में णमोकार, हाशिए एवं पुष्पिका लिखने का प्रचलन रहा है। इससे इतर भी यदि कोई स्याही प्रयुक्त हुई है तो उसका भी उल्लेख होना चाहिए। यहाँ तक पाण्डुलिपि के रूप का बाह्य विवरण दिया गया है।

7. ग्रंथ का आन्तरिक परिचय

पाण्डुलिपि के बाह्य विवरण के बाद क्षेत्रीय अनुसंधानकर्ता को अपनी खोज रिपोर्ट में ग्रंथ का संक्षिप्त अन्तरंग परिचय भी देना चाहिए, जिसमें सामान्यत: निम्न बिन्दुओं को रेखांकित करना अपेक्षित है -

(1) रचनाकार का नाम - रचनाकार के नाम के साथ अन्य बातें, यथा - निवास-स्थान, वंश-परिचय आदि देना चाहिए।

(2) रचनाकाल - यदि रचनाकाल रचना में दिया गया है तो वही लिखना चाहिए अन्यथा अज्ञात लिखना चाहिए। हाँ, पारिस्थितिक प्रमाणों के आधार पर अनुमानित रचनाकाल का संकेत भी दिया जा सकता है।

(3) ग्रंथ-रचना का उद्देश्य

(4) रचना का स्थान

(5) आश्रयदाता का नाम-परिचय

(6) रचना की भाषा - संस्कृत, गुजराती, राजस्थानी आदि एवं उसकी विशेषता

(7) लिपि एवं लिपिकर्ता का नाम एवं परिचय, यथा - गुरु-शिष्य परम्परा, वंश-परिचय, लिपिकर्ता का आश्रयदाता, प्रतिलिपि करने का अभिप्राय एवं प्रतिलिपि का स्वामित्व आदि।

(8) प्रत्येक अध्याय के अन्त की पुष्पिका

(9) रचना के आदि, मध्य एवं अन्त के अंश के उद्धरण भी प्रस्तुत करें।

8. पाण्डुलिपि (हस्तलिखित ग्रंथ) - विवरण (रिपोर्ट) का प्रारूप

अब तक के अध्ययन से एक क्षेत्रीय अनुसंधानकर्ता को पाण्डुलिपियों की खोज के संदर्भ में बहुत कुछ जानकारी प्राप्त हो जानी चाहिए। इन्हीं सम्पूर्ण जानकारियों को प्रारूप के रूप में निम्न प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है, जिसे टंकित या मुद्रित करवाकर क्षेत्रीय अनुसंधानकर्ता अपने साथ रख सकते हैं। इससे एक लाभ तो यह होगा कि अनुसंधान के कार्य में एकरूपता रहेगी तथा एकाधिक रिपोर्टों के प्रारूप से तुलनात्मक अध्ययन भी हो सकेगा। यहाँ यत्किंचित परिवर्तन के साथ काशी नागरी प्रचारिणी सभा के क्षेत्रीय अनुसंधानकर्ताओं द्वारा प्रयुक्त प्रारूप को प्रस्तुत कर रहे हैं[1] -

विवरण (रिपोर्ट) का प्रारूप

क्रमांक **पाण्डुलिपि का प्रकार - गुटका, पोथी आदि**

1. पाण्डुलिपि का नाम
2. रचनाकार या कर्ता का नाम
3. रचनाकाल - या अनुमानित रचनाकाल
4. कुल पत्र संख्या - लिखित एवं कोरे
5. ग्रंथ का आकार - लम्बाई इंच × चौड़ाई इंच (सेण्टीमीटर में भी)
6. प्रति पृष्ठ पंक्ति संख्या -
7. प्रति पंक्ति अक्षर संख्या -
8. ग्रंथ का लिप्यासन - कागज, कपड़ा, चमड़ा, ताड़पत्र, भोजपत्र आदि
9. लिपि प्रकार - देवनागरी, कैथी, फारसी आदि
10. लिखावट - एक ही हाथ की या अनेक हाथों की
11. लिपिकर्ता - नाम, स्थान, लिप्यंकन-तिथि -

1. पाण्डुलिपिविज्ञान : डॉ. सत्येन्द्र, पृ. 89-90।

12. रचनाकार के आश्रयदाता का परिचय
13. लिपिकार के आश्रयदाता का परिचय
14. रचना का उद्देश्य - स्वपठनार्थ या अन्यार्थ
15. प्रतिलिपि का उद्देश्य - स्वपठनार्थ या अन्यार्थ
16. ग्रंथ की सुरक्षा (रख-रखाव) - बुंगचा, बस्ता, वेष्टन, पट्टे, डोरी आदि
17. ग्रंथ का विषय - प्रत्येक अध्याय का संक्षिप्त विषय-परिचय
18. आदि का उदाहरण
19. मध्य का उदाहरण
20. अन्त का उदाहरण
21. ग्रंथ में प्रयुक्त सभी पुष्पिकाएँ आदि।

9. लेखा-जोखा (प्राप्त ह. लि. ग्रंथों का हिसाब-किताब)

यद्यपि पाण्डुलिपि की खोज में व्यस्त क्षेत्रीय अनुसंधानकर्ता को प्राप्त रचनाओं का लेखा-जोखा रखना आवश्यक नहीं है, फिर भी किसी संस्था या व्यक्ति विशेष के लिए कार्य करने वाले अनुसंधानकर्ता के लिए सहायक सिद्ध हो सकते हैं। लेखे-जोखे की कोई निश्चित कालावधि (3 माह, 6 माह, 9 माह, एक वर्ष आदि) में प्राप्त ग्रंथों के संदर्भ में निम्नलिखित जानकारी लिखी जानी चाहिए -

(1) क्षेत्र-कार्य में आनेवाली प्रारंभिक कठिनाइयाँ एवं उनका समाधान
(2) क्षेत्र-विशेष का भौगोलिक परिचय
(3) भौगोलिक क्षेत्र के विविध स्थानों से प्राप्त सामग्री की अलग-अलग संख्या
(4) कुल प्राप्त ग्रंथ जिनका विवरण इस कालावधि में अंकित किया गया।

इस प्रकार प्राप्त सम्पूर्ण सामग्री की कई तालिकाएँ बन सकती हैं -

(1) ग्रंथ नामानुक्रमणिका की दृष्टि से
(2) रचनाकार - नामानुक्रमणिका की दृष्टि से
(3) काल विभाजन की दृष्टि से - भक्तिकाल की, रीतिकाल की आदि
(4) शताब्दी क्रम की दृष्टि से - 10वीं शती में प्राप्त ग्रंथों की संख्या, 12वीं शती में प्राप्त ग्रंथों की संख्या आदि
(5) अज्ञात रचनाकार या लिपिकारों की रचनाएँ - संख्या।

10. तुलनात्मक अध्ययन

यद्यपि प्राप्त पाण्डुलिपियों का तुलनात्मक अध्ययन पाठालोचन एवं भाषा-विज्ञान के विद्वानों का विषय है, फिर भी एक क्षेत्रीय अनुसंधानकर्ता को भी इसकी संक्षिप्त जानकारी होना अपेक्षित है। इस संदर्भ में डॉ. सत्येन्द्र कहते हैं, ''हमें क्षेत्रीय कार्य करते हुए और विवरण तैयार करते हुए कुछ कवि प्राप्त हुए। अब हमें यह भी जानना आवश्यक है कि क्या एक ही नाम के कई कवि हैं? उनकी पारस्परिक भिन्नता, अभिन्नता और उनके कृतित्व की स्थूल तुलना करके अपनी उपलब्धि का महत्त्व समझा या समझाया जा सकता है। इसे एक उदाहरण से स्पष्ट करना होगा। 'चंदकवि' नाम के कवि के आपको कुछ ग्रंथ मिले। आपने अब तक प्रकाशित या उपलब्ध सामग्री के आधार पर उनका विवरण एकत्र किया। तब तुलनापूर्वक कुछ निष्कर्ष निकाला।''[1]

11. जाली या नकली हस्तलिखित ग्रंथ

अब एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि क्षेत्रीय अनुसंधानकर्ता को खोज करते समय जाली या नकली ग्रंथों के प्रति सावधानी रखनी होगी। आज के भौतिकतावादी युग में इन जाली ग्रंथों की संभावना अधिक हो गई है। प्राय: प्राचीन ग्रंथों की तस्करी अपने देश में और विदेशों में बढ़ गई है। चूँकि प्राचीन पाण्डुलिपियों के व्यवसाय में अच्छाखासा मुनाफा है, इसलिए असली की नकल बाजार में धड़ल्ले से चलती है। कभी-कभी तो कुशल एवं जानकार व्यक्ति भी इस जालसाजी के शिकार हो जाया करते हैं। यह तो सभी जानते हैं कि प्रो. व्हूलर ने 'पृथ्वीराज रासो' के एशियाटिक सोसायटी के द्वारा किये जा रहे प्रकाशन को 'जाली और भट्ट भणन्त' कह कर प्रकाशन से रुकवा दिया था। इसी प्रकार महत्वपूर्ण एवं प्राचीन रचनाकारों के ग्रंथों की नकली प्रतियाँ तैयार कर, बेचने का व्यवसाय चल रहा है इससे सावधान रहना चाहिए।

अत: पाण्डुलिपिविज्ञान के विद्यार्थी को हस्तलिखित ग्रंथ की बाह्य एवं आन्तरिक परीक्षा भलि-प्रकार करके उसके असली होने पर आश्वस्त होना चाहिए। उसे यह ध्यानपूर्वक देखना होगा कि कहीं रचना नकली या जाली तो नहीं है। ❑

---

1. विशेष अध्ययन के लिए देखिए – पाण्डुलिपिविज्ञान : डॉ. सत्येन्द्र, पृ. 96-124।

अध्याय 3

पाण्डुलिपि : प्रकार

'पाण्डुलिपि' शब्द का अर्थ-विस्तार हो जाने के कारण उसके अन्तर्गत 'पाण्डुलिपि' के अनेक प्रकार समाहित हो गये हैं। अनेक प्रकार के लिप्यासनों पर लिखित रचनाएँ, ग्रंथ, राज्यादेश, चिट्ठी-पत्री आदि अनेक प्रकार की पाण्डुलिपियाँ इसी में समावेशित हैं। इसलिए 'पाण्डुलिपिविज्ञान' के सम्यक् ज्ञान हेतु उसके सभी प्रकार-भेदों से परिचित होना आवश्यक है। सामान्यत: उन्हें इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है -

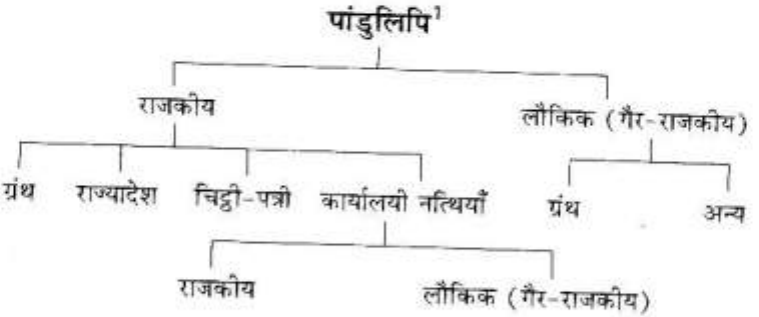

मोटे रूप से 'पाण्डुलिपि' के दो प्रकार ही मानते हैं - राजकीय क्षेत्र में राजा के द्वारा भी, राज्याश्रित भी रचनाएँ लिखी जाती रही हैं। इस प्रकार की सामग्री अभिलेखागारों में और शिलालेखादि की सामग्री 'राष्ट्रीय पुरातत्व संग्रहालयों में सुरक्षित रखी जाती हैं। इनके अतिरिक्त लिप्यासन की दृष्टि से भी 'पाण्डुलिपि' के अनेक भेद किये जा सकते हैं -

1. 'पाण्डुलिपि : प्रकार' में प्राय: 'पाण्डुलिपिविज्ञान : डॉ. सत्येन्द्र' की सामग्री का उपयोग किया गया है। साभार।

लिप्यासन के आधार पर पाण्डुलिपि : प्रकार

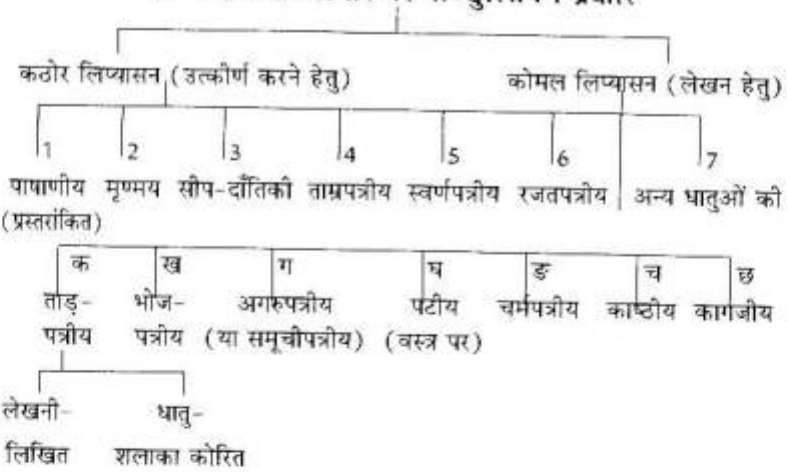

1. कठोर लिप्यासन

कठोर लिप्यासन पर उकेरी गई या खोदी गई पाण्डुलिपियाँ सामान्यत: 7 प्रकार की बताई गई हैं। इनके भी अनेक भेद हैं। इन प्रकारों के भी निम्न प्रकार हैं -

1. पाषाणीय (शिलालेखादि)

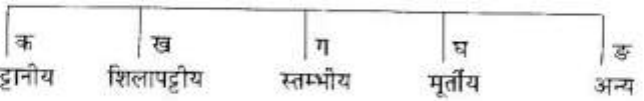

(क) चट्टानीय : पहाड़ की कठोर चट्टानों पर उत्कीर्ण ग्रंथों को चट्टानीय पाण्डुलिपि कहा जाता है। सन् 1170 ई. में उत्कीर्ण 'उन्नत शिखर पुराण' (दिगम्बर जैन समुदाय की कृति) राजस्थान के भीलवाड़ा जिले के बिजौलिया गाँव की चट्टान पर खुदा हुआ है।

(ख) शिलापट्टीय : प्राचीनकाल में शिलापट्टों पर लेख उत्कीर्ण किये जाने के अनेक उदाहरण मिलते हैं। ऐसा ही एक विस्तृत लेख राणा कुम्भा के समय में मेवाड़ के कुम्भलगढ़ के कुंभि-स्वामिन् या मामादेव के मन्दिर में पाँच शिलापट्टों पर खुदवाकर लगाए गये थे। इसी प्रकार मेवाड़ के ही राजसमुद्र

तालाब की पुश्तों पर राजकवि रणछोड़ कृत 'राज प्रशस्ति' 24 खण्डों में, 24 शिलापट्टों पर उकेर कर जड़ी गई हैं। ऐसे ही भोज परमार का 'कूर्मशतक' (प्राकृतभाषा काव्य), मदन की 'पारिजात मंजरी' (संस्कृत नाटक), अजमेर के शासक विग्रहराज चतुर्थ (1153-54 ई.) का हरकेलि नाटक तथा उनके राजकवि सोम शेखर का 'ललितविग्रह नाटक' शिलापट्टीय लेख ही हैं।

(ग) स्तम्भीय : प्रस्तर स्तम्भों पर लेख खुदवाने की परम्परा भी अति-प्राचीन है। ये स्तम्भ लेख कई प्रकार के हो सकते हैं, जैसे -

(1) शिलास्तम्भ : सम्राट् अशोक (272-232 ई. पू.) कालीन शिला-स्तम्भ लेख सम्भवत: प्राचीनतम शिलालेख स्तम्भ हैं। इन पर उत्कीर्ण लिपि में इन्हें शिलास्तम्भ ही कहा गया है।

(2) ध्वजस्तम्भ : प्रस्तरांकित ये लेख प्राय: मंदिरों के सामने स्थापित किये जाते हैं; जैसे - होलियो-डोरस का गरुड़ध्वज, दिल्ली के पास महरोली के प्रसिद्ध विष्णुध्वज के अभिलेख भी इसी कोटि के हैं।[1]

(3) जयस्तम्भ : किसी युद्ध में विजय प्राप्त करने पर विजेता राजा की प्रशस्ति प्रस्तरांकित कर स्थापित की जाती थी, जैसे - सम्राट समुद्रगुप्त का एरण का और यशोवर्मन का मन्दसौर (म.प्र.) के जयस्तम्भ हैं।

(4) कीर्तिस्तम्भ : किसी व्यक्ति के धार्मिक, सामाजिक पुण्यकार्यों की कीर्ति को उजागर करने के लिए खड़ा किया जाता है।

(5) वीर-पुरुष स्तम्भ : युद्ध में अपार शौर्यपूर्ण कार्य करते हुए वीरगति को प्राप्त किसी सामान्य व्यक्ति की स्मृति में ऐसे स्तम्भ खड़े किये जाते हैं। इन पर देव प्रतिमाओं के साथ लेख भी उत्कीर्ण होता है। ऐसे ही एक वीर-पुरुष स्मारक स्तम्भ को गाँव अमाई (कोटपूतली) से उद्धार कर राजकीय महाविद्यालय, कोटपूतली के प्रांगण में हमने स्थापित करवाया था। गुजराती में ऐसे वीर-पुरुष स्तम्भों को 'पालियाँ' कहते हैं।

(6) सतीस्तम्भ : प्राचीनकाल में अपने पति के मृतक शरीर के साथ सती होने वाली नारियों की स्मृति में सतीस्तम्भ स्मारक-रूप में स्थापित किये जाते थे। इन पर भी लेख होते हैं।

1. ना. प्र. पत्रिका, अंक 3-4, वर्ष 71, संवत् 2023, पृ. 401-408।

(7) धर्मस्तम्भ : ऐसे स्तम्भ प्राय: धर्म स्थलों पर स्थापित किये जाते थे। विशेष रूप से बौद्ध एवं जैनधर्म-स्थलों पर ऐसे सलेख स्तम्भ मिलते हैं। महाकूट का धर्मस्तम्भ ऐसा ही प्राचीन लेखयुक्त धर्मस्तम्भ है।

(8) स्मृतिस्तम्भ : किसी पारिवारिक या स्वगोत्री व्यक्ति की स्मृति में उत्कीर्ण कर खड़े किये जाते हैं। इन्हें गोत्र-शालिका भी कहते हैं।

(9) छाया स्तम्भ : यह भी स्मृति स्तम्भ का ही एक प्रकार है; किन्तु इस पर स्मृत-व्यक्ति की आकृति उकेरी जाती है।

(10) यूप-स्तम्भ : प्राय: यज्ञभूमि में यज्ञोपरान्त बलि-पशु को बाँधने के लिए सलेख स्तम्भ स्थापित किये जाते थे, जिन्हें यूप-स्तम्भ कहा जाता था।

2. मृण्मय —पकाई हुई मिट्टी पर भी कई प्रकार के लेख मिलते हैं; जो इस प्रकार हैं -

(क) मिट्टी की ईंटों पर : कच्ची-पक्की - दोनों प्रकार की ईंटों पर भी प्राचीन लेख प्राप्त हुए हैं। इन ईंटों पर ग्रंथ भी लिखे मिले हैं और अभिलेख भी। भारत में कुछ बौद्ध-धर्म ग्रंथ ईंटों पर उकेरे या उभारे गए मिले हैं। दाममित्र और शीलवर्मन जैसे राजाओं के अश्वमेध संबंधी अभिलेख ईंटों पर लिखे मिलते हैं। एक ऐसा ही 'इस्टक खंड' डॉ. जगदीश गुप्त को अंगई खेड़े (म.प्र.) की एक पुरानी नींव से प्राप्त हुआ था। वे कहते हैं - "एक वृहदाकार इस्टक खंड पर पर्याप्त प्राचीन अवस्था के ब्राह्मी अक्षरों में 'ततिजसो इटाकु' अंकित मिलता है, जो ई.पू. प्रथम शती लगभग का अनुमानित किया गया है।"[1]

इसी प्रकार के बौद्ध काल के धार्मिक सूत्र आदि ईंटों पर खुदे हुए मिले हैं, जिनके नमूने मथुरा संग्रहालय में देखे जा सकते हैं।

(ख) घोंघे : कभी-कभी ईंटों के अतिरिक्त मिट्टी के ढेलों पर भी लेख अंकित कर उन्हें आग में पका लिया जाता था। प्राय: ऐसे घोंघे धार्मिक मनौतियों की स्मृति में सलेख पकाये जाते थे।

---

1. धीरेन्द्र वर्मा विशेषांक, हिन्दी अनुशीलन, भारतीय हिन्दी परिषद्, प्रयाग, वर्ष 13, अंक 1-2 (जन.-जून) 1960 ई. डॉ. जगदीश गुप्त का लेख 'मध्यप्रदेश का अज्ञात सांस्कृतिक केन्द्र अंगईखेड़ा', पृ. 242-246।

अंगईखेड़े की पुरानी नींव से प्राप्त ईंट पर अंकित ब्राह्मी अक्षर जो अपनी आकृति से ई. पू. की प्रथम शताब्दी से भी अधिक प्राचीन प्रतीत होते हैं।

(ग) मुहर-मुद्राएँ : मोहनजोदड़ो और नालंदा की पुरातात्विक खुदाई में ऐसी अनेक मुद्राएँ प्राप्त हुई हैं, जिन पर लेख अंकित थे।

(घ) घट : पुरातात्विक खुदाई में प्राप्त प्राचीन मृद्भाण्डों या घड़ों के ऊपर अथवा उनके ढक्कनों पर भी लेख उत्कीर्ण हुए प्राप्त होते हैं।

3. सीप-दांतिकी : सीप, शंख, हाथीदाँत आदि की बनी मुद्राओं एवं लकड़ी की लाट या स्तम्भों पर भी प्राचीन लेख अंकित प्राप्त हुए हैं, जैसे - किरारी से प्राप्त काष्ठ-स्तम्भ एवं भज की गुफा की छतों की काष्ठ महराबों पर लेख अंकित मिले हैं।

4. ताम्रपत्रीय : भारत में उत्कीर्ण लेखों की दृष्टि से समस्त धातुओं में ताम्र धातु के पत्रों का सर्वाधिक प्रयोग हुआ है। अनेक प्राचीन उल्लेखों से यह बात सिद्ध होती है। ताम्रपत्रों पर कई प्रकार के लेख मिलते हैं। इनका विवरण निम्न प्रकार से दिया जा सकता है -

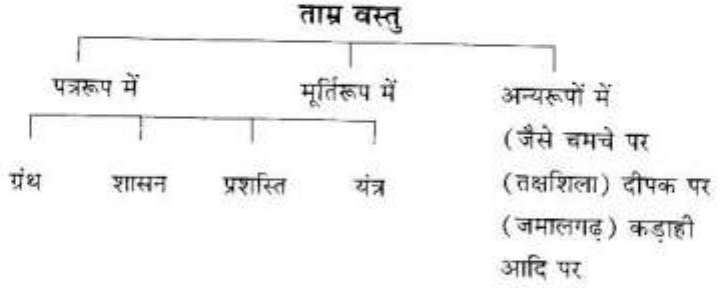

ताम्रपत्र पर ग्रंथ अंकित कराने का उल्लेख ह्वेनसांग ने भी किया है। उन्होंने बताया है कि कनिष्क ने बौद्ध धर्म-ग्रंथ ताम्रपत्रों पर अंकित कराये थे। इसी प्रकार तिरुपति में स्थित तेलुगु में रचित 'ताल्लया कमवरी' भी ताम्रपत्रों पर ही लिखी गई है।

प्राचीन राज्यादेश भी प्राय: ताम्रपत्र पर ही किये जाते थे। इस प्रकार के अकबर और शाहजहाँकालीन ताम्रपत्र हमने खूब देखे हैं। नारायणपुर (अलवर) के राजा बलभद्र शेखावत झज्जर से लेकर टोंक प्रान्त तक के शाही सूबेदार एवं दीवान थे। 7 फरवरी सन् 1628 ई. को बादशाह शाहजहाँ ने उन्हें हजारी जात

और 600 सवारों का मनसब दिया था। यह राजा बलभद्र परमदानी थे। हमें बारहठजी की ढाणी (तुर्कियावास) में चारण गिरधरदास को 1857 बीधा जमीन दान में दिये जाने बाबत बलभद्र शेखावत का ताम्रपत्र रूड़दानजी के पास देखने को मिला है। ताम्रपत्र के दोनों ओर लिखावट है तथा पूर्णत: सुरक्षित है। 18 पंक्तियों के इस ताम्रपत्र का मूलपाठ इस प्रकार है -

1. श्रीरामजी
2. राम: सही:
3. सिधी श्री महाराज श्री बलभद्र
4. जी दीवान वचनाथ मोजे गिरधरदा
5. स चारण नै ऊदीक गांव तुरकवास
6. दीयो परगनां कुल कसवैह हरसोल्ही
7. धरती बीध 1857 अंके बीध ओ
8. ठारै सै सतावन श्री परमेसर जी नीम
9. ती कर दीया सो नेरमीयल दीनु जो
10. कोई अहकी षेचल करै तो जहन जका ध
11. रम की सो छै हिदुनै हींद्वा का धरम की सो
12. छै मुसलमान न मुसलमान का धरम
13. की सो छ सीरलोक अपदा.... ते
14. मेटंत वासंधरात नरा नरके ज.... तौ
15. लग चंद दबाकर संवत् (10657) को
16. मिती बैसाष सद 12 दसकत
17. हरबस कायथ का हुकम हजुर
18. लषौ

बादशाह अकबरकालीन इस ताम्रपत्र में लिपि विज्ञान के विद्यार्थियों के लिए अनेक महत्वपूर्ण सूचनाएँ मिल सकती हैं[1]। इसी प्रकार शाहजहाँकालीन वि.सं. 1704 (सन् 1647 ई.) का महाराज राजसिंह, नारायणपुर तथा राजा विजयसिंह (नारायणपुर) का संवत् 1767 (सन् 1710 ई.) का ताम्रपत्र भी देखने को मिला[1]।

1. तोरावाटी का इतिहास : डॉ. महावीर प्रसाद शर्मा, द्वि. संस्करण 2001, पृ. 158-160।

ताम्रपत्रों पर उत्कीर्ण प्रशस्तियों के उल्लेख भी मिलते हैं। ताम्रपत्रांकित यन्त्र प्राचीन देवालयों एवं मंदिरों में आज भी देखे जा सकते हैं। अन्य ताम्र-वस्तुओं में चमचे (तक्षशिला की खुदाई में प्राप्त), दीपक (जमालगढ़ में प्राप्त), कढ़ाही आदि कहे जा सकते हैं। दक्षिण भारत से अनेक ऐसी धातु-निर्मित घण्टियाँ प्राप्त हुई हैं, जिन पर 10वीं-11वीं सदी के लेख उत्कीर्ण हैं।"[1]

5. स्वर्णपत्रीय : स्वर्णपत्रीय उत्कीर्ण लेख मूलत: दो प्रकार के पाए जाते हैं -

(1) स्वर्णपत्र पर : स्वर्णपत्र पर एक ग्रंथ ढाका (बंगलादेश) के धामदह ताल से प्राप्त हुआ था, जो 24 स्वर्णपत्रों पर अंकित था। इसी प्रकार भारत से बाहर बौद्ध धारणी भी स्वर्णपत्रों पर अंकित मिली है। अनेक प्राचीन अभिमंत्रित मंत्र भी स्वर्णपत्रों पर अंकित मिलते हैं। इनके अतिरिक्त अनेक राजपत्र एवं व्यापारिक पत्र भी प्राप्त होते हैं।

(2) स्वर्णनिर्मित वस्तुओं के लेख : स्वर्णपत्र के अतिरिक्त स्वर्णनिर्मित अनेक वस्तुओं, जैसे - प्याले-कटोरे, सुराही, लटकन एवं देव-पालकियों पर भी लेख मिलते हैं। ब्रिटिश म्यूजियम में प्राप्त कुछ पाण्डुलिपियाँ यद्यपि लिखी तो ताड़पत्र पर गई हैं किन्तु उन्हें स्वर्ण मंडित किया गया है।

6. रजतपत्रीय : स्वर्णपत्र की तरह रजतपत्र पर भी अनेक प्रकार के अभिलेख मिले हैं। इनमें तक्षशिला की खुदाई में प्राप्त सामग्री विशेष ध्यान देने योग्य है। यहाँ अभिलेख, प्याले-कटोरे, तश्तरियाँ, रकाबी, चलनी आदि प्राप्त हुए हैं। ब्रिटिश म्युजियम में रजत मंडित ताड़पत्रों पर खचित अनेक ग्रंथ उपलब्ध हैं। सन् 79 ई. का एक रजत अभिलेख जो तक्षशिला से कुण्डली आकार में प्राप्त हुआ है, भी उल्लेखनीय है।

7. अन्य धातुओं पर : इनके अतिरिक्त कांस्य, लौह, पीतल एवं पंचधातु या अष्टधातु निर्मित अनेक सामग्रियाँ प्राप्त होती हैं, जिन पर लेख उत्कीर्ण हैं; जैसे - कांस्य पीठिका (मूर्ति), कांस्य पिटक, फलक, कांस्य मुद्राएँ, लौह स्तम्भ (दिल्ली), लौह त्रिशूल (आबू) एवं पीतल की घंटियाँ आदि जो मंदिरों में प्राप्त होती हैं।

---

1. The Researcher, Vol. VII-IX, 1966-68, Jaipur, pp. 47-50.

2. कोमल लिप्यासन

(क) ताड़पत्रीय : ताड़पत्रीय लेख दो प्रकार के प्राप्त होते हैं - (1) लेखनी-लिखित, (2) शलाका-कोरित। प्रथम प्रकार के उत्तर भारत में अधिक प्राप्त हुए हैं, जबकि दूसरे प्रकार के दक्षिण भारत में 15वीं शती पूर्व के मिलते हैं। ताड़पत्र को लिप्यासन बनाने से पूर्व उसे उबालकर शंख या कौड़ी से घिस कर चिकना किया जाता था। फिर लोहे की शलाका या कलम से उस पर कुरेदते हुए अक्षर लिखे जाते थे। इसके बाद उन पर स्याही लेप कर अक्षर उभारे जाते थे। इस प्रकार की लेखन-परम्परा दक्षिण भारत में प्राचीनकाल से रही है। उत्तर भारत में लेखनी द्वारा लिखने की परम्परा रही है।

यद्यपि ताड़पत्रीय लेख दक्षिण भारत में अधिक लिखे जाते थे; किन्तु गर्म जलवायु होने के कारण वे जल्दी नष्ट हो जाते थे। कश्मीर, नेपाल, गुजरात और राजस्थान आदि ठण्डे एवं सूखे जलवायु वाले प्रदेशों में ताड़पत्रीय लेखों की अधिकता मिलती है। ताड़पत्रीय लेखों को कपड़े आदि में न बाँध कर मुक्त रूप से ही रखा जाता था।

ताड़पत्रीय प्राचीन लेख - प्रो. गैरोला वाचस्पति के अनुसार पाशुपत मत के आचार्य रामेश्वरध्वज द्वारा लिखित 'कुसुमाञ्जलि टीका' तथा 'प्रबोधसिद्धि' पहली-दूसरी सदी के आसपास लिखी गई प्राचीनतम ताड़पत्रीय पाण्डुलिपियाँ हैं।[1] इसी प्रकार डॉ. लूडर्स ने भी दूसरी शती की स्याही से लिखी हुई ताड़पत्रीय नाटक की प्रति के त्रुटित अंश को छपवाया था। इसके बाद जापान के होरिमूजि मठ में, मध्य भारत से ले जाये गए दो बौद्ध ग्रंथ - 'प्रजापारमिता हृदय सूत्र' एवं उष्णषविजयधारिणी' - छठी शताब्दी में लिखित ताड़पत्रीय रचनाएँ रखी हुई हैं। नेपाल में भी 'स्कंदपुराण' (7वीं सदी) और लंकावतार (906-7 ई. में लिखित) ताड़पत्रीय ग्रंथ सुरक्षित हैं। कैम्ब्रिज के पाण्डुलिपि संग्रहालय में 'परमेश्वर तंत्र' की ताड़पत्रीय प्रति 859 ई. में लिखित सुरक्षित है। राजस्थान के जैसलमेर के ग्रंथ भण्डार तो ऐसी रचनाओं के लिए प्रसिद्ध ही है। वहाँ वि.सं. 924, 1139, 1109, 1115 एवं 1160 वि. की रचनाएँ स्याही से लिखी हुई सुरक्षित हैं।[2] इसी प्रकार गुजरात के खंभात और पूना के संग्रहालयों में भी वि. 1164, 1181 एवं 962 की प्रतियाँ ताड़पत्र पर लिखि हुई पाई जाती हैं।

1. अक्षर अमर रहे : गैरोला वाचस्पति, पृ. 4
2. पाण्डुलिपिविज्ञान, डॉ. सत्येन्द्र, पृ. 146।

(ख) भोजपत्रीय ग्रंथ : भूर्ज नामक वृक्ष की छाल पर लिखी हुई रचनाएँ ही भोजपत्रीय रचनाएँ कहलाती हैं। इस प्रकार के ग्रंथ उत्तर भारत के कश्मीर क्षेत्र में अधिक पाए जाते हैं। भूर्जपत्र पर लिखित सर्वाधिक प्राचीन ग्रंथ खोतान से प्राप्त 'धम्मदद' (प्राकृत) का कुछ अंश है। यह ईसा की दूसरी शती का माना जाता है। ईसा की चौथी शताब्दी में लिखित दूसरा भोजपत्रीय बौद्ध ग्रंथ डॉ. स्टाइन को खोतान के खड्लिक स्थान से मिला था। मिस्ट बाबर को प्राप्त पुस्तकें छठी शताब्दी की हैं तथा बख्शाली का अंकगणित 8वीं शताब्दी का है।[1] 15वीं, 16वीं शताब्दी में लिखित भोजपत्रीय ग्रंथ राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर एवं महाराजा संग्रहालय, जयपुर में भी सुरक्षित मिली हैं। राष्ट्रीय अभिलेखागार, दिल्ली में भी 5-6 शती के भोजपत्रीय गुप्तकालीन लिपि-लिखित बौद्ध-ग्रंथ भैषज्य गुरुवैदूर्य प्रभासूत्र सुरक्षित हैं।

(ग) अगरुपत्रीय [या सांची (समूची) पातीय] : पूर्वी भारत के आसाम में अगरुवृक्ष की छाल से तैयार पत्रों पर ग्रंथ लिखने और चित्र बनाने की परम्परा थी। अत्यधिक कष्ट से प्राप्त अगरुपत्र पर महत्वपूर्ण ग्रंथ या राजा-महाराजाओं के लिए लिखे जाने वाले ग्रंथ होते थे। लिखे हुए पत्रों पर संख्यामूलक अंक दूसरी ओर 'श्री' अक्षर लिखकर अंकित किया जाता था। प्रत्येक पत्र के मध्य में छिद्र बनाया जाता था, जिसमें पिरोकर डोरी बाँधी जाती थी। लिखित पत्रों की सुरक्षा के लिए ऊपर-नीचे लकड़ी के पट्टे या अगरु के ही मोटे पत्र लगाए जाते थे, जिन्हें 'बेटी पत्र' कहा जाता था।

लिखावट या चित्र बनाने से पूर्व इन पत्रों को मुलायम एवं चिकना बनाने के लिए 'माटीमाह' का लेप किया जाता था। इसके बाद कृमिनाशक हरताल (पीले रंग) से रंग देते थे। धूप में सूखने के बाद अगरु छाल के ये पत्र चिकने हो जाते थे। ऐसे पत्रों को आसाम में 'सांचीपात' कहा जाता है। कोमलता और चिकनेपन के कारण ये पत्र दीर्घायु भी होते थे।

भारत में 7वीं शती के 'हर्ष चरित' में बाणभट्ट ने 'अगरपत्रों' के प्रयोग करने की बात का उल्लेख किया है। वह कहता है कि कामरूप के राजा भास्कर वर्मा ने सम्राट हर्षवर्धन के दरबार में अगरु छाल पर लिखे हुए ग्रंथ भेंटस्वरूप भेजे

1. भारतीय प्राचीन लिपिमाला : ओझा, पृ. 144।

थे। ''अगरुवल्कल-कल्पित-सञ्चयानि च सुभाषितभाञ्जि पुस्तकानी ....।''[1] इससे पूर्व बौद्ध-तांत्रिक ग्रंथ भी सांचीपात या अगरुवल्कल पत्रों पर लिखे जाते थे। महाराजा संग्रहालय, जयपुर में भी 'सांचीपात' पर लिखित महाभारत के कुछ पर्व प्राप्त हुए हैं।

(घ) पटीय (वस्त्र-पत्र) : प्राचीनकाल में पाण्डुलिपि लिखने, चित्र बनाने एवं यंत्र-मंत्रादि लिखने हेतु सूती कपड़े का प्रयोग किया जाता था। सूती कपड़े के छिद्रों को भरने के लिए आटा, चावल का मांड, ल्हाई या मोम लगाकर उसकी परत बनाकर सुखा लेते थे। सूखने पर आकीक, पत्थर, शंख, कौड़ी या कसौटी के पत्थर से घोटकर उसे चिकना बनाया जाता था। इसके बाद उस पर लेखन या चित्रांकन किया जाता था। ऐसे पटीय ग्रंथ 'पट-ग्रंथ' तथा पटीय-चित्र 'पट-चित्र' कहलाते थे। ऐसे पटों पर यंत्र-मंत्रादि लिखे जाते थे। जैन मतावलंबी उस पर अढाई द्वीप, तीन द्वीप, तेरह द्वीप, जम्बू द्वीप तथा सोलह स्वप्न आदि के चित्र एवं नक्शे भी बनाते थे। धीरे-धीरे मंदिरों में प्रतिमा के पीछे की दीवार पर लटकाने के सचित्र पट भी बनने लगे। इन्हें पिछवाई कहते हैं। राजस्थान में इस प्रकार की पिछवाई बनाने का केन्द्र नाथद्वारा रहा है, जहाँ श्रीनाथजी की बहुमूल्य एवं सुन्दर-सुन्दर पिछवाइयाँ बनाई जाती हैं। राजस्थान के लोकदेवताओं, जैसे - पाबूजी, रामदेवजी, देवनारायणजी आदि की 'पड़ें' भी ऐसे ही पटों पर चित्रांकित की जाती रही हैं।

महाराजा संग्रहालय, जयपुर में 17वीं-18वीं शताब्दी के पटों पर लिखित एवं चित्रित अनेक तांत्रिक नक्शे, देवचित्र एवं वास्तुचित्र उपलब्ध हैं। मोम लगे 'मोमियापट' पर प्राय: बड़ी-बड़ी जन्मपत्रियाँ बनाई जाती थीं। संवत् 1711 से 1736 वि. के मध्य लिखी महाराज रामसिंहजी के पुत्र कृष्णसिंहजी की ऐसी ही जन्मपत्री 456 फीट लम्बी एवं 13 इंच चौड़ी सुरक्षित है। इस पर जयपुर के इतिहास के साथ-साथ अनेक सम-सामयिक चित्र भी लिखे या बनाये गये हैं। प्राचीन पंचांग (ज्योतिष) भी कपड़ों पर लिखे मिलते हैं।

जैन धर्मावलम्बियों द्वारा 'पर्यूषण पर्व' के अन्तर्गत अनेक सामूहिक क्षमापन पत्र भी ऐसे ही पटों पर लिखे जाते थे। इन्हें 'विज्ञप्ति-पत्र' भी कहा जाता था। इस प्रकार के पत्रों की खोज जैन-ग्रंथ-भण्डारों में अपेक्षित है।

1. हर्षचरित : बाणभट्ट, सातवाँ उच्छवास।

दक्षिण भारत में, विशेषकर आंध्रप्रदेश में इमली के चीयों की लेई बनाकर कपड़े पर लपेट कर पट बनाया जाता था, जिसकी बहियाँ बनाकर व्यापारी अपने काम में लेते थे। ऐसे पटों से बनी बही को 'कदितम्' कहा जाता था। 300 वर्ष प्राचीन ऐसी अनेक बहियाँ शृंगेरी मठ में उपलब्ध हैं। सूती-पटों के अतिरिक्त कहीं-कहीं रेशमी-पटों का भी प्रयोग किया जाता था। अल्बरूनी ने नगरकोट के किले की एक 'राजवंशावली' का वर्णन किया है, जो रेशम के पट पर लिखी है।

(ङ) चर्मपत्रीय : चर्मपत्रीय पाण्डुलिपियों की उपस्थिति तो बहुत प्राचीनकाल से ही मानी जाती है, किन्तु भारत में धार्मिक कारणों से चर्मपत्र पर लेखन का कार्य बहुत कम हुआ है। हाँ, पुस्तक की जिल्दबंदी में चर्मपत्र का प्रयोग अवश्य किया जाता था। इस प्रकार के उल्लेख कालीदास के ग्रंथों और सुबन्धु कृत 'वासवदत्ता' में भी आये हैं। डॉ. व्हूल्हर को जैसलमेर के हस्तलिखित-ग्रंथ भण्डारों में कुछ चर्मपत्र भी प्राप्त हुए थे। इससे कल्पना की जा सकती है कि मानो उनका उपयोग लिखने में या ग्रंथ को आवेष्टित करने में अवश्य किया जाता रहा होगा।

भारत के अलावा यूनान, अरब, योरोप और मध्य एशिया के देशों में प्राचीन काल से ही पार्चमैण्ट (चमड़े से निर्मित) के चर्मपत्र पर लेखन कार्य होता था। सोक्रेटीज ने भेड़ के चर्म-पत्र का उल्लेख किया है। 11वीं शती तक इस्लामी काल में मृगचर्म पर लिखित कुरान की अरबी प्रतियाँ तैयार की जाती थीं। मिश्र और ईरान में भी पार्चमैण्ट पर ग्रंथ लिखने की बात मिलती है। पल्हवी भाषा में चमड़े को 'पुस्त' कहते हैं। इसी से ईरानी सम्पर्क के कारण 'पुस्त' शब्द से भारत में 'पुस्तक' शब्द का प्रयोग हुआ। मृच्छकटिक नाटक में शूद्रक ने पुस्तक के प्राकृत रूप 'पोत्थम' या 'पोथा' का प्रयोग किया है। 7वीं शती से 'पुस्तक' शब्द भारतीय ग्रंथों में प्रयुक्त होने लगा था। बाणभट्ट ने 'श्रीहर्षचरित' में 'पुस्तक' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग किया है। इसी ग्रंथ में पुजारी के वर्णन में कपड़े पर लिखित 'दुर्गास्तोत्र' का वर्णन भी मिलता है।

(च) काष्ठीय : काष्ठीय या काष्ठपट्टीय ग्रंथ लिखने की परम्परा भी अति प्राचीन है। विगत 50 वर्ष पूर्व तक विद्यालयों में विद्यार्थी का सुलेख सुधारने के लिए काष्ठपट्टी पर काली स्याही से लिखाई करने का रिवाज था। उसे मुल्तानी

मिट्टी या खड़िया से पोत कर पुनः लिखा जाता था। वस्तुतः पाटी पर पोती जानेवाली मुलतानी को 'पाण्डु' कहा जाता था। इसलिए प्रारंभ में मूललेख को 'पाण्डुलिपि' कहा जाने लगा था। बौद्ध जातक कथाओं में छात्रों द्वारा काष्ठफलकों पर लिखे जाने का विवरण मिलता है। जैनों के 'उत्तराध्ययन सूत्र' की टीका की रचना सं. 1129 में नेमिचन्द्र नामक विद्वान द्वारा की गई थी। उसमें भी काष्ठीय या पाटी से नकल करने का उल्लेख मिलता है। खरोष्ठी लिपि में लिखित कुछ काष्ठपट्टीय ग्रंथ खोतान में भी उपलब्ध हैं। कभी-कभी तो ग्रंथ की सुरक्षार्थ ऊपर-नीचे लगाए गए काष्ठ फलकों पर भी लेख मिलते हैं। काष्ठ फलकों पर लेखनकला की तरह चित्रकला का भी अंकन हुआ है। चित्रकला उपादानों में काष्ठ फलक के चित्र सबसे ज्यादा टिकाऊ और रंग चमकीले रहते हैं। जैन ज्ञान भण्डारों में ताड़पत्रीय प्रतियों के काष्ठफलक लगभग 900 वर्ष प्राचीन मिलते हैं। इन चित्रों में प्राचीनतम चित्र श्री जिनबल्लभ सूरि और श्री जिनदत्त सूरि जी के हैं। उनके थोड़े समय बाद कलिकाल सर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्य कुमारपाल व वादिदेव सूरि कुमुदचंद के शास्त्रार्थ के भाव चित्रित काष्ठ फलक भी पाये जाते हैं।[1] चित्र कलात्मक काष्ठ फलकों की दृष्टि से राजस्थान में जैसलमेर के ग्रंथ भण्डार अपना विशेष महत्त्व रखते हैं। काष्ठ स्तम्भों एवं भज की गुफा की छतों की काष्ठ मेहराबों पर भी लेख प्राप्त हुए हैं।

(छ) काग़जीय : हमारे देश में प्राचीन काल से ही ताड़पत्र, भोजपत्र, कपड़े पर लिखने एवं चित्रांकन की परम्परा रही है। इसी प्रकार कागज भी यंत्र-मंत्र एवं ग्रंथादि लिखने के काम में आता था।

कागज बनाने का सर्वप्रथम प्रयास सन् 105 ई. में चीन में किया गया। सिकन्दर महान के भारत आक्रमण (सन् 327 ई.पू.) के समय भारत में रूई से बने कागज का उल्लेख मिलता है। यह कागज रूई एवं चिथड़ों की कूट-कूट कर लुगदी बनाकर बनाया जाता था। लेकिन इस पर ग्रंथ लिखने का रिवाज कम था। इससे इतना ही समझना चाहिए कि भारतीय ईसा से चार शताब्दी पूर्व भी एशिया और योरोप के अन्य देशों की तुलना में कागज बनाने की विधि जानते थे।

हमारे देश के कश्मीर, दिल्ली, दौलताबाद, अहमदाबाद, शाहाबाद, पटना, कानपुर, घोसुण्डा (मेवाड़), खंभात एवं सांगानेर में प्राचीन काल से ही कागज

1. The Researcher, Vol. VII-IX, 1966-68, pp. 69.

बनाने के उद्योग प्रचलित थे। इन जगहों पर कश्मीरी, मुगलिया, अरवाल, साहबखानी, शणिया, खंभाती, दौलताबादी एवं अहमदाबादी आदि अनेक प्रकार एवं रंग के कागज निर्मित होते थे। इन कागजों पर लिखित प्राचीन ग्रंथ विविध ग्रंथागारों में सुरक्षित हैं।

भारत में वि.सं. 1181 (सन् 1124 ई.) की भागवतपुराण की कागज पर लिखित प्राचीन प्रति वाराणसी के संस्कृत विश्वविद्यालय में सरस्वती भवन पुस्तकालय में सुरक्षित है। इसके बाद वि.सं. 1204 (1146 ई.) में लिखित आनन्दवर्धन कृत ध्वन्यालोक की प्राचीनतम टीका राजस्थान, प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर में है। जीर्ण-शीर्ण इस ग्रंथ की फोटो प्रति सुरक्षित है। इसी प्रकार वि.सं. 1326 की पद्म प्रभसूरि रचित 'भुवनदीपक' पर उन्हीं के शिष्य सिंह तिलक कृत वृत्ति भी 'पोथीखाना' जयपुर में सुरक्षित है। और भी अनेक प्राचीन पाण्डुलिपियाँ राजस्थान-गुजरात के जैन ग्रंथागारों, जिनालयों एवं व्यक्तिगत पुस्तकालयों में सुरक्षित हैं। इसके बाद तो हजारों पाण्डुलिपियाँ देशी कागज पर तैयार होने लगीं। वि. सं. 1609 (सन् 1552 ई.) की 'श्रीभगवद्गीता संबोधि टीका' दयालदास द्वारा लिपिकृत श्रीराम भवन पुस्तकालय, कोटपूतली (जयपुर) में भी सुरक्षित है।[1]

पाण्डुलिपियों के अन्य प्रकार

1. आकार के आधार पर

मुनि पुण्यविजयजी ने आकार के आधार पर पाण्डुलिपियों के 5 प्रकार बताए हैं — (क) गण्डी, (ख) कच्छपी, (ग) मुष्टी, (घ) सम्पुट फलक, (ङ) छेदपाटी (छिवाड़ी या सृपाटिका)[2]। इनमें प्रत्येक का विवरण निम्न प्रकार है :

(क) गण्डी : ताड़पत्रीय आकार के कागजों या ताड़पत्र पर लिखी हुई ऐसी पाण्डुलिपि जो मोटाई और चौड़ाई में समान होते हुए लम्बे आकार की होती है, गण्डी कहलाती है।

1. शोध-पत्रिका, वर्ष 32, अंक 2, अप्रेल-जून, 1981, डॉ. एम.पी. शर्मा का लेख 'ब्रजभाषा के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज', पृ. 68-72
2. भारतीय जैन श्रमण संस्कृति अने लेखन कला, पृ. 22

(ख) कच्छपी : कछुए के आकार का ऐसा ग्रंथ जो किनारों पर संकरा तथा बीच में चौड़ा होता है। इनके किनारे या छोर या तो गोलाकार होते हैं या तिकोने। इस प्रकार के आकार की पाण्डुलिपि कच्छपी कहलाती है।

(ग) मुष्टी : चार अंगुल आकार की, मुट्ठी में पकड़ी जाने वाली लघु पाण्डुलिपि को मुष्टी कहते हैं। हैदराबाद के सालारजंग संग्रहालय में एक इंच माप की पाण्डुलिपियाँ सुरक्षित हैं। हमने अपने हस्तलिखित ग्रंथों की खोज करने के सिलसिले ऐसी मुष्टी आकार की 'गीता' भी कहीं देखी थी।

(घ) सम्पुटफलक : सचित्र काष्ठ पट्टिकाओं पर लिखित पाण्डुलिपि को सम्पुटफलक कहते हैं।

(ङ) छेदपाटी : लम्बे-चौड़े, परन्तु संख्या में कम (मोटाई कम) पत्रों की पाण्डुलिपि को छेदपाटी या छिवाड़ी कहते हैं।

2. लेखन-शैली के आधार पर

लेखन-शैली की दृष्टि से पाण्डुलिपि के निम्नलिखित चार प्रकार होते हैं — (1) पृष्ठ के रूप-विधान की दृष्टि से, (2) चित्र-सज्जा की दृष्टि से, (3) सामान्य स्याही (काली) से भिन्न स्याही में लिखित, (4) अक्षराकार की दृष्टि से।

(1) पृष्ठ के रूप-विधान की दृष्टि से पाण्डुलिपि के तीन भेद किये जाते हैं - (क) त्रिपाट, (ख) पंचपाट, (ग) शुंड (शूंड)।

(क) त्रिपाट - जब पाण्डुलिपि का पृष्ठ तीन भागों में बाँट कर लिखा गया हो, उसे त्रिपाट कहा जाता है। जिस पाण्डुलिपि में पृष्ठ के ऊपर-नीचे छोटे अक्षरों में टीका या अर्थ लिखा जाये और मध्य भाग में मूलग्रंथ के श्लोक आदि मोटे अक्षरों में लिखे गये हों, उसे त्रिपाट पाण्डुलिपि कहते हैं।

(ख) पंचपाट - त्रिपाट की तरह पंचपाट में भी पृष्ठ के 5 भाग कर लिखा जाता है। त्रिपाट शैली के अतिरिक्त दाएँ-बाएँ के हाशियों में भी कुछ लिखकर पंचपाट बनाया जाता है।

(ग) शुंड - शुंड या शूंड आकार की पाण्डुलिपियाँ लिखी तो जाती थीं, किन्तु वे आजकल उपलब्ध नहीं हैं। इस प्रकार की पाण्डुलिपि में लेखक द्वारा

लिखित पृष्ठ हाथी की सूँड के आकार का दिखाई देता है। इसमें ऊपर की पंक्ति सबसे बड़ी होती है और बाद वाली क्रमशः दोनों ओर से छोटी होती जाती है। अन्तिम सबसे छोटी पंक्ति के लिखने के बाद पूरा पृष्ठ हाथी की शूंड के आकार का दिखने लगता है।

3. चित्र-सज्जा के आधार पर

प्रायः पाण्डुलिपि में चित्र-सज्जा दो दृष्टियों से की जाती है - (क) सजावट के लिए, (ख) संदर्भगत उपयोग के लिए। ये दोनों ही प्रकार एक स्याही में भी हो सकते हैं और विविध रंगों की स्याही में भी।

भारत में पाण्डुलिपियों में चित्रांकन की प्राचीन परम्परा रही है। 11वीं शती से 16वीं शती के मध्य पाण्डुलिपि-चित्रशैली का अधिक विकास हुआ। इस चित्रशैली को विद्वानों ने 'अपभ्रंश शैली' नाम दिया है। पं. उदयशंकर शास्त्री कहते हैं - ''जैन ताल पोथियों के चित्र अपभ्रंश शैली के हैं, जिनमें कहीं-कहीं प्रतीत होता है कि ये अपनी आरंभिक शैली में हैं पर पालपोथियों (पाल राजाओं के राज्यकाल की) के चित्र निश्चय ही अजन्ता शैली के प्रतीत होते हैं।''[1] डॉ. रामनाथ का भी यही मत है। वे कहते हैं - ''मुख्यतः ये चित्र जैन संबंधी पोथियों (पाण्डुलिपियों) में बीच-बीच में छोड़े हुए चौकोर स्थानों में बने हुए मिलते हैं।''[2] इस दृष्टि से राजस्थान में जैसलमेर के ग्रंथ भण्डार विशेष उल्लेखनीय हैं। वहाँ की सचित्र 15वीं शती की एक कल्पसूत्र एवं कालकाचार्य कथा की प्रति का विवरण साराभाई नवाब ने प्रकाशित किया है।[3] इस प्रकार अपभ्रंश शैली की चित्र कला में जैन धर्मग्रन्थों का बड़ा भारी योगदान रहा है।

बादशाह अकबर के शासनकाल में चित्र-सज्जा शैली का विशेष विकास हुआ। इस प्रकार अब तक चित्रकला की तीन शैलियाँ सामने आ गई थीं - (1) अपभ्रंश शैली, (2) राजस्थान शैली, (3) मुगल शैली। जैन ग्रंथों के माध्यम से विकसित अपभ्रंश शैली के दो रूप मिलते हैं - एकमात्र अलंकरण सम्बन्धी - 1062 ई. के 'भगवती सूत्र' नामक ग्रंथ में केवल अलंकरण ही हैं।

1. अनुसंधान के मूल तत्व, आगरा, पृ. 57
2. मध्यकालीन भारतीय कलाएँ एवं उनका विकास, पृ. 43
3. शोध-पत्रिका, वर्ष 32, अंक 2, पृष्ठ 67

1100 ई. की 'निशीथ-चूर्णि' से दूसरे रूप का विकास होता है, जिसमें बेल-बूटों के साथ पशुओं की आकृतियाँ भी चित्रित हैं। 13वीं शताब्दी में देवी-देवताओं के चित्रण अधिक देखने को मिलते हैं।[1] ये सभी पाण्डुलिपियाँ ताड़पत्रीय थीं। 1100 से 1400 ई. के मध्य चित्रित ग्रंथों में अंगसूत्र, कथा सरित्सागर, त्रिषष्ठि-शलका-पुरुष-चरित, श्री नेमिनाथ चरित, श्रावक-प्रतिक्रमण-चूर्णि आदि प्रमुख हैं।

14वीं से 16वीं शती के मध्य कागज का उपयोग होने लगा था। इस समय की चित्रित पाण्डुलिपियों में कल्पसूत्र, कालकाचार्य कथा की अनेक प्रतिलिपियाँ प्रमुख हैं। लखनऊ संग्रहालय में 1451 वि. की 'बसंत-विलास' नामक कृति में 79 चित्र प्राप्त होते हैं। अलवर संग्रहालय में भी अनेक महत्वपूर्ण पाण्डुलिपियाँ हैं, जो अरबी-फारसी शैली की बेहतरीन पाण्डुलिपि मानी जाती हैं। सन् 1840 ई. में निर्मित 'गुलिस्तां' ऐसी ही कृति है।[2] ऐसी सजावटी एवं उपयोगी पुस्तकें बहुमूल्य होती हैं। अत: यह विशेष सुरक्षा की अपेक्षा रखती है।

4. सामान्य स्याही से भिन्न स्याही में लिखित आधार पर

सामान्य स्याही से अभिप्राय काली या कभी-कभी लाल स्याही में लिखित ग्रंथों से है। इनके अतिरिक्त स्वर्ण या रजत की स्याही से लिखित वर्णों वाली पाण्डुलिपि बहुत मूल्यवान मानी जाती है। यद्यपि स्वर्ण एवं रौप्य या रजताक्षरों में लिखित पाण्डुलिपियाँ कम ही होती हैं, फिर भी पाण्डुलिपियों का यह वर्ग विशेष देखभाल की अपेक्षा रखता है।

5. अक्षरों के आकार-आधारित प्रकार

सूक्ष्म अथवा स्थूल अक्षरों के आकार के आधार पर भी पाण्डुलिपियों का प्रकार निर्धारित किया जा सकता है। इस प्रकार सूक्ष्माक्षरी पाण्डुलिपियाँ प्राय: त्रिपाट या पंचपाट की होती हैं। अर्थात् जितने छोटे (सूक्ष्म) अक्षरों का प्रयोग किया जावेगा, पाण्डुलिपि में उतनी ही अधिक सामग्री का समावेश हो सकेगा। इस प्रकार सूक्ष्माक्षरी पाण्डुलिपि को पढ़ने में आतिशी शीशे की आवश्यकता होती है।

1. पाण्डुलिपि विज्ञान; डॉ. सत्येन्द्र, पृ. 161
2. The Researcher. Vols. XII-XIII. 1972-74. पृ. 35-38, अलवर संग्रहालय के कुछ नादिर मखतूतात : ए. एफ. उसमानी (लेख)।

इसी प्रकार स्थूलाक्षरी पाण्डुलिपि में मोटे या बड़े अक्षरों का प्रयोग किया जाता है, जो मंददृष्टि पाठकों के लिये पढ़ने में सुविधाजनक रहती है।

इन प्रकारों के अतिरिक्त कुछ अन्य प्रकार भी हैं जिनका आजकल अनुसंधानकर्ता अपनी खोज रिपोर्टों में उल्लेख किया करते हैं, जैसे -

(1) पत्राकार पाण्डुलिपियाँ : खुले पत्रों के रूप में।

(2) पोथी : कागजों को बीच में मोड़कर सिली हुई।

(3) गुटका : आकार में छोटे पन्नों की पोथी को सीकर बनाया जाता है।

(4) पोथो : बीच से सिली हुई बृहदाकार पोथी, जिसमें अनेक पाण्डुलिपियाँ लिपिबद्ध हो सकती हैं, पोथो कहलाती है।

(5) पानावली : अधिक लम्बी एवं कम चौड़ी बहीनुमा पोथी को पानावली कहते हैं।

उपर्युक्त प्रकारों को दो वर्गों में बाँट सकते हैं - (1) पत्र-रूप में, (2) जिल्द के रूप में। गुटका, पोथो, पोथी दूसरे वर्ग की पाण्डुलिपियाँ हैं।

शिलालेखीय प्रकार

पाण्डुलिपियों के प्रकारों के बाद कुछ बातें शिलालेखीय हस्तलेखों के सम्बन्ध में भी विचारणीय हैं। शिलालेखों की दृष्टि से प्राय: सम्राट अशोक के शिलालेख सबसे प्राचीन माने जाते हैं। ये चार प्रकार के हैं[1] -

1. स्तंभ लेख
2. चट्टान पर खुदे हुए लेख
3. गुफाओं के भीतर खुदे हुए लेख
4. फुटकर लेख

इन शिलालेखों की लिपि (ब्राह्मी) के अक्षर सीधे-सादे एवं अलंकरण रहित होने के कारण, ये लिपि की प्रारंभिक अवस्था के द्योतक कहे जा सकते हैं। कुछ शिलालेख खरोष्टी लिपि में भी प्राप्त होते हैं। ऐतिहासिक महत्ता वाले इन शिलालेखों के वर्णित विषय निम्न प्रकार हो सकते हैं -

1. अनुसंधान के मूल तत्व, आगरा, प्रो. उदयशंकर शास्त्री का लेख 'शिलालेख और उनका वाचन, पृ. 68।

(क) राजाज्ञा-विषयक

(ख) दान-विषयक

(ग) किसी स्थान निर्माण के अभिप्राय एवं काल-विषयक

(घ) घटना-विशेष के स्मरण लेख आदि।

शिलालेखों की छाप लेने की विधि

जिस शिलालेख (या प्रस्तरलेख-ताम्रलेख आदि) की छाप लेनी हो तो पहले उसे पानी से भलि प्रकार धो लेना चाहिए ताकि अक्षरों में घुसी धूल-मिट्टी साफ हो जाये, फिर कागज (जूनागढ़ी हो तो बहुत अच्छा है) को पानी में भिगोकर जिस लेख की छाप लेनी है उस पर चिपका देना चाहिए। फिर हल्के हाथ से उसे मुलायम ब्रुश से धीरे-धीरे पीटना चाहिए, ताकि कागज अक्षरों में भलि प्रकार चिपक जाए। यदि कहीं कागज पर बुलबुले उठते हों तो उन्हें ब्रुश से पीट-पीट कर किनारे कर देना चाहिए। यदि पीटते समय कहीं से कागज फट जाये या कट जाये तो उस स्थान पर एक कागज का टुकड़ा भिगोकर लगा देना चाहिए और उसे पीट-पीट कर उस कागज में मिला देना चाहिए। इसके बाद काली स्याही (आजकल प्रेस के काम में ली जाने वाली स्याही भी काम में ली जा सकती है) के घोल से डैबर (या पफ) की सहायता से लेख की पंक्तियों को स्याही लगा देनी चाहिए। कहीं धब्बा न लगे इसका ध्यान रखना चाहिए। जब पूरे लेख पर स्याही लग जाये तब धीरे-धीरे कागज को लेख से उतार कर सुखा लेना चाहिए। बस आप की छाप तैयार है।

छाप लेने की सामग्री

एक थैले में निम्न सामग्री होनी चाहिए -

1. ब्रुश दो (एक मुलायम तथा एक कठोर - गर्म कपड़े साफ करने वाला)
2. वांछित सफेद कागज (जूनागढ़ी)
3. स्याही मिलाने का डैबर - 1
4. बड़ा डैबर 1 - लेख पर स्याही लगाने के लिए
5. चाकू
6. स्केल या कपड़े का फीता

यदि डैबर प्राप्त न हो तो एक रूमाल में थोड़ी रूई लेकर उसका पैड-सा बना लें। उस पर स्याही लगाकर चिपके हुए कागज पर धीरे-धीरे उस पैड से दबाना चाहिए। प्राय: सभी कोनों पर इसकी दाब समान होनी चाहिए। बस आपकी छाप तैयार हो जायेगी।

इस तरह किसी भी प्रकार के लिप्यासन पर लिखी रचना पाण्डुलिपि की श्रेणी में मानी जायेगी। पाण्डुलिपि के और भी अनेक प्रकार हो सकते हैं। हमने यहाँ चिट्ठी-पत्री अथवा अन्य अद्‌भुत लेखों का विवरण जान-बूझ कर नहीं दिया है। क्योंकि पाण्डुलिपिविज्ञान के विद्यार्थी को सामान्य ज्ञान के लिए इतना ही आवश्यक है। ❑

अध्याय 4

पाण्डुलिपि की लिपि : समस्या और समाधान

1. पाण्डुलिपिविज्ञान और लिपि

पाण्डुलिपिविज्ञान में लिपि का महत्व सर्वविदित है। लिपि के कारण ही कोई लेख पाण्डुलिपि कहलाता है। लिपि के माध्यम से ही किसी भाषा को चिह्नों में बाँधकर, उसे दृश्य या पाठ्य बना पाते हैं। इसी कारण हजारों वर्षों पूर्व प्रचलित भाषाएँ आज भी अपने पूर्व रूप में सुरक्षित हैं। स्थान-भेद से विश्व में अनेक भाषाएँ एवं लिपियाँ पाई जाती हैं। पाण्डुलिपिविज्ञान के विद्यार्थी को अनेक भाषाओं और लिपियों से परिचित होना आवश्यक नहीं तो अपेक्षित अवश्य है। डॉ. सत्येन्द्र कहते हैं - ''वस्तुत: विशिष्ट लिपि का ज्ञान उतना आवश्यक नहीं जितना उस वैज्ञानिक विधि का ज्ञान अपेक्षित है जिससे किसी भी लिपि की प्रकृति और प्रवृत्ति का पता चलता है। इस ज्ञान से हम विशिष्ट लिपि की प्रकृति और प्रवृत्ति जानकर अध्येता के लिए अपेक्षित पाण्डुलिपि का अंतरंग परिचय दे सकते हैं।''[1] अत: लिपि का महत्त्व निर्विवाद है। फिर वह प्राचीन हो या अर्वाचीन।

इतना ही नहीं ''अपौरुषेय श्रुति को छोड़कर अन्य सभी शब्दों को सुनने के लिए वक्ता और श्रोता के समकालत्व और समदेत्व की अपेक्षा होती है। ऐसी परिस्थिति में अपनी बात और भावना को यदि उत्तरकालीन या भिन्नदेशस्थ मनुष्य तक पहुँचाना अभीष्ट हो तो किसी अन्य उपाय का अवलम्बन करना चाहिए। मनुष्य अपने समय की विशेष घटनाओं की स्मृति छोड़ जाना चाहता है। उनका उल्लेख वह अपने पुत्र-पौत्रों से कर दे और वे अपने नाती-पोतों से, तो परम्परा

1. पाण्डुलिपिविज्ञान, पृ. 174

में स्मृति बाकी रह सकती है। पर सदा यह संभव नहीं कि उसके निकटस्थ संबंधी उसके पास हों। यदि उसने कोई बात अन्तस्तल में छिपा रक्खी है और उसके बच्चे छोटे-छोटे हैं तो वह अपनी बात की स्थिति किस प्रकार छोड़ जाये?"[1] इस कारण भी लिपि का महत्व बढ़ जाता है।

यह हम सब जानते हैं कि व्याकरण और लिपि का जन्म भाषा के जन्म के बाद होता है। जैसे बच्चा बोलना तो पहले सीखता है, लेकिन लिखना और पढ़ना बाद में ही संभव होता है। दुनिया में अनेक भाषाएँ हैं और उनकी अनेक लिपियाँ हैं; क्योंकि लिपि का संबंध चिह्नों से है। 'चिह्न' को ही अक्षर या अंग्रेजी में 'अल्फाबेट' कहते हैं। ये 'अक्षर' भाषा की किसी ध्वनि के चिह्न होते हैं। अत: लिपि के जन्म से पूर्व भाषा-भाषियों को भाषा के विश्लेषण हेतु उस भाषा में कुल कितनी ध्वनियाँ हैं, जिनसे शब्द का निर्माण हो सकता है, का ज्ञान होना आवश्यक है। भाषा का जन्म वाक्य रूप में होता है। विश्लेषक बुद्धि के विकसित होने पर भाषा को अलग-अलग अवयवों में बाँटा जाता है। उन अवयवों में फिर शब्दों को पहचाना जाता है। 'शब्द' अर्थवान होकर ही भाषा के अवयव बनते हैं। कालान्तर में अर्थ में विकार भी उत्पन्न होते रहते हैं। तब शब्द महत्ववान हो उठता है। शब्द की इकाइयों से 'ध्वनितत्व' तक पहुँचा जाता है। 'ध्वनि' (श्रव्य) को दृश्य बनाने हेतु चिह्नों (लिपि चिह्नों) की कल्पना की जाती है। क्योंकि मूलस्वरूप से भाषा श्रोतेन्द्रिय का विषय है।

2. लिपि का विकास-क्रम

अल्फाबेट्स या वर्णमाला से पूर्व लिपि का आधार 'चित्र' ही थे। चित्रों के माध्यम से मानव अपनी बात ध्वनि-निर्भर वर्णमाला से पूर्व कहने लगा था। क्योंकि चित्रलिपि से भाव का व्यक्तीकरण अधिक आसानी से हो जाता था। 'चित्र' का संबंध ध्वनि या शब्दों से नहीं वरन् वस्तु से होता है। वस्तुत: चित्र वस्तु की प्रतिकृति होते हैं। भाषा से पूर्व मनुष्य भावाभिव्यक्ति के लिए 'संकेतों' से काम लेता था। संकेत से अभिप्राय है, मनुष्य जिस वस्तु को चाहता है उस ओर, उसका संकेत कर बताता है। गूँगे की भाषा ऐसी ही वस्तु-संकेत भाषा होती है। हमें याद है, बचपन में जब अपने मित्रों में किसी गुप्त संदेश को देना होता

1. सामान्य भाषा विज्ञान, बाबूराम सक्सेना, सन् 1965, पृ. 245

था, तब एक गुप्त (कोड भाषा) भाषा का संकेतों द्वारा प्रयोग करते थे। इस संदर्भ में प्रचलित काव्यांश इस प्रकार है -

अहिफन कमल चक्र टंकारा।
तरुवर पवन युवा सुस्कारा॥
अंगुलिन अच्छर चुटकिन मात्रा।
कह हनुमंत सुनहु सौमित्रा॥

(कहीं-कहीं "राम कहे लक्ष्मण से वार्ता" भी बोला जाता है।)

अर्थात् हाथ के द्वारा साँप के फन का आकार बनाओ, जिसका अर्थ संपूर्ण स्वर एवं अं, अः होता है। फिर हाथ से कमल के फूल का संकेत करो, जिसका अर्थ क वर्ग, चक्र का अर्थ च वर्ग, टंकार का अर्थ ट वर्ग, तरुवर का अर्थ त वर्ग, पवन का अर्थ प वर्ग, युवा का अर्थ य र ल व, सुस्कार का अर्थ समस्त ऊष्म ध्वनियाँ, अँगुलियाँ उठाकर दिखाने का अर्थ वर्ग का कौन अक्षर और चुटकी बजाकर-ह्रस्व मात्रा हो तो एक और दीर्घ मात्रा हो तो दो चुटकी मात्रा का बोध करवाया जाता है। यह सारी प्रक्रिया संकेतों के द्वारा ही दूर बैठे दोस्त से करते रहते हैं। उत्तरी अमरीका में बहुत बाद तक संकेतों के द्वारा संदेश दिये जाते थे। सर्वप्रथम अपनी आदिम अवस्था में मनुष्य ने गुफा और कन्दराओं में चित्र बनाना ही सीखा था। इसके बाद चित्रों के माध्यम से वह अन्य बातें भी दर्शाने लगा होगा। इस प्रकार सर्वप्रथम 'चित्र-लिपि' का प्रारंभ हुआ। अर्थात् भाषा से पूर्व चित्रलिपि का आधार वस्तुबिम्ब ही था। इस प्रकार चित्र लिपि ही सबसे प्राचीन लिपि है।

इतिहास साक्षी है कि प्रारंभ में मानव ने आनुष्ठानिक टोने के चित्रों से आगे बढ़कर उसने चित्रलिपि के माध्यम से वस्तुबिम्बों की रेखाकृतियाँ पैदा कीं। मिश्र की चित्रलिपि इसका अच्छा उदाहरण कही जा सकती है। "मिश्र देश में प्रचलित चित्रलिपि से भाव का व्यक्तिकरण अधिक आसानी से हो जाता था। दौड़ते हुए बछड़े के पास ही पानी का भी चित्र, प्यास के भाव का उद्‌बोध कराता था।"[1] अतः कहा जा सकता है कि मिश्र की प्राचीन लिपि दो प्रक्रियाओं के योग से अपना रूप ग्रहण कर रही थी। चित्रों से विकास पाकर ध्वनि-प्रतीकों के रूप

1. सामान्य भाषा विज्ञान : डॉ. बाबूराम सक्सेना, पृ. 245

में लिपि का विकास एक जटिल प्रक्रिया है। क्योंकि 'चित्र' दृश्य वस्तुबिम्ब से जुड़े होते हैं। इन वस्तुबिम्बों का ध्वनि से सीधा संबंध नहीं होता है। वस्तु को नाम देने पर चित्र ध्वनि से जुड़ता है। इतना होने पर ही ध्वनि और लिपि-वर्ण परस्पर सम्बद्ध हो सकेंगे और आगे चलकर मात्र एक ध्वनि का प्रतीक हो सकेगा।[1] डॉ. बाबूराम सक्सेना कहते हैं - ''इस तरह प्रथम सम्पूर्ण बात या वाक्य का बोध कराने वाले एक चित्र, फिर वाक्य के विभिन्न स्थूल भावों के अलग-अलग चित्र, फिर इन चित्रों से विकसित हुए उनके उद्‌बोधक संकेत, और इनसे अक्षर, लिपि के विकास में यह क्रम रहा।''[2]

अत: लेखन और लिपि के विकास-क्रम में पहला चरण है - बिम्ब अंकन, दूसरा है - बिम्बलिपि, तीसरा है - रेखाकार चित्रलिपि, चौथा है - बिम्बलिपि और रेखाचित्र लिपि का समन्वय, अर्थात् चित्रलिपि, पाँचवाँ है - प्रतीक चित्राकृति तथा छठा है - ध्वनि (वर्ण)। अब लिपि पूर्णत: ध्वनिमूलक हो गई है।

वस्तुत: चित्रलिपि का उदय मिश्र में 3100 ई.पू. हुआ होगा। मिश्र में इस लिपि को 'हिअरोग्लाफिक' (पवित्र अंकन) लिपि कहते हैं। यूनान में इसे 'दैवी-शब्द' (Gods Words) कहा जाता है। यह मिश्र की प्राचीन लिपि है। इसका उपयोग धार्मिक अनुष्ठानों में होता रहा होगा। मिश्र के अलावा हिट्टाइट, प्राचीन क्रीट, ऐस्किमो जाति और अमेरिकन इण्डियनों की प्राचीन लिपि चित्रलिपि ही थी।

ध्वनिमूलक चित्रलिपि की वर्णमाला के दो भेद हैं -

(1) अक्षरात्मक (Syllabic) - जैसे देवनागरी लिपि का 'क' (क् + अ)। चीनी भी।

(2) वर्णात्मक (Alphabetic), जैसे - रोमनलिपि का 'K'

आज विश्व में लिपियाँ प्राय: तीन रूपों में पाई जाती हैं -

(1) दायें से बाएँ लिखी जाने वाली - फारसी

(2) बाएँ से दाएँ लिखी जाने वाली - देवनागरी, रोमन।

(3) ऊपर से नीचे की ओर लिखी जाने वाली - चीनी लिपि।

1. पाण्डुलिपिविज्ञान : डॉ. सत्येन्द्र, पृ. 177
2. सामान्य भाषा विज्ञान, पृ. 247

किसी भी पाण्डुलिपि वैज्ञानिक को प्रथम दृष्टया लिपि के लिखने के प्रकार को देख-समझकर ही उस लिपि के संबंध में विचार करना चाहिए।

3. लिपि का इतिहास

पाण्डुलिपिविज्ञान की दृष्टि से 'लिपि' की खोजबीन में भारतेतर अनेक विद्वानों का सहयोग रहा है। अनेक लिपि वैज्ञानिकों एवं इतिहासकारों के प्रयासों से ही विश्व की प्राचीन लिपियों का इतिहास प्रकाश में आया। 19वीं शती के प्रारंभ से ही अज्ञात लिपियों के पढ़ने के प्रयास होते रहे हैं। उनके परिणामस्वरूप विश्व की अनेक अज्ञात लिपियों का उद्‌घाटन हो सका है।

चीन और मिश्र के अलावा लिपि का विकास प्राचीनकाल में मेसोपोटैमिया में सुमेरी जाति द्वारा किया गया; क्योंकि यहाँ भी भावव्यक्तीकरण चित्रों द्वारा ही पाया गया है। लेकिन जहाँ मिश्र में अधिकतर ये चित्र पत्थरों पर खुदे हुए मिले हैं, मेसोपोटैमिया के चित्र नरम ईंटों पर कीलों से खोदे जाते थे। तल की नर्मी के कारण केवल लाइनें खिंच सकती थीं, गोलाई आदि के प्रदर्शन का कोई साधन न था। जैसे मछली का चित्र केवल 3-4 पंक्तियों से खींचा जा सकता था। इस तरह ये चित्र प्रारंभ से ही संकेत चिह्न हो गये और बाद में भावों के व्यक्त करने वाले। सामी पड़ोसियों ने इन्हें अक्षरात्मक बना दिया। बाद में ईरान में भी इनका प्रयोग शुरू हो गया, जिसका एक रूप हमें दारा के प्राचीन कीलाक्षर लेखों में मिलता है। सामी लिपि में केवल 22 वर्ण थे।

यदि देखा जाये तो चित्रलिपि का आधार वाणी, बोली या भाषा नहीं, वस्तु बिम्ब ही है। वस्तु बिम्ब को रेखाओं में अनुकूल करने से चित्र बनता है। आदिम अवस्था में ये रेखाचित्र स्थूल प्रतीक के रूप में थे। उसने देखा कि मनुष्य के सबसे ऊपर गोल सिर है, अतएव उसकी अनुकृति के लिए उसकी दृष्टि से चिह्न एक वृत्त O होगा। यह सिर गर्दन से जुड़ा हुआ है, गर्दन कंधे से जुड़ी है। यह उसे एक 'I' छोटी सीधी खड़ी रेखा सी लगी। कंधा भी उसे पड़ी सीधी रेखा के समान दिखाई दिया '—'। इसके दोनों छोरों पर दो हाथ जो कुहनी से मुड़ सकते हैं और छोर पर पाँच अँगुलियाँ अर्थात् प्रस्तुत चित्र। धड़ को उसने दो रेखाओं से बने डमरू के रूप में समझा क्योंकि कमर पतली, वक्ष और उरु चौड़े = धड़। कभी-कभी धड़

को वर्गाकार या आयताकार भी बनाया। नीचे पैर X और टाँगें। इन्हें बनाने के लिए दो आड़ी खड़ी रेखाएँ '//' और एक दिशा में मुड़े पैर की द्योतक दो पड़ी रेखाएँ '—', '—'। मानव के बिम्ब का रेखानुकृति ने यह रूप लिया :

चित्र-1
यह रेखाचित्र तो प्रक्रिया को समझाने के लिए है

यह रेखांकन की प्रक्रिया है जिसमें चित्र बनाने वाले की कुशलता से रूप में भिन्नता आ सकती है पर जो भी रूप होगा, वह स्पष्टत: उस वस्तु का बिम्ब प्रस्तुत करेगा, यथा -

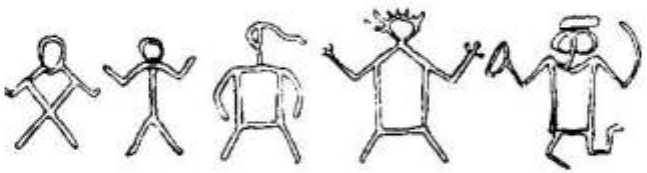

चित्र-2
आदिम मानव के बनाये चित्र हैं। वर्गाकार छड़ दृष्टव्य है।

चित्र-3
चित्रलिपि में मनुष्य के विविध रेखांकन सिन्धुघाटी की मुहरों की छापों से नीचे दिये गये हैं। ये वास्तविक लिपि-चिह्न हैं।[1]

1. पाण्डुलिपिविज्ञान : डॉ. सत्येन्द्र, पृ. 176

चित्र - आदि मानव ने पहले चित्र बनाए। ये चित्र उसने गुफाओं में बनाए। इन चित्रों को बनाते समय यह भाव विकसित हुआ कि वह इनसे किसी बात को सुरक्षित रख सकता है। इस प्रकार ये चित्र 'लिपि' का काम देने लगे। यह लिपि 'बिम्बलिपि' थी। और यह चित्रलिपि की आधार भूमि मानी जा सकती है। अत: लेखन और लिपि के लिए प्रथम चरण है बिम्ब अंकन और दूसरा चरण है उससे संप्रेषण का काम लेना। इसे हम - 2. बिम्बलिपि का नाम दे सकते हैं।

इस चित्र से स्पष्ट है कि स्वस्तिक पूजा और छत्र-अर्पण के पूरे शान्तिमय भाव को प्रेषित करने के लिए, पूजा-भाव में पशुओं के आदर के समावेश की कथा को और पूजा-विधान को हृदयंगम कराने के लिए चित्र-लेखक इस चित्र के द्वारा बिम्बों से संप्रेषित करना चाहता है। अत: यह लिपि का काम कर उठा है। यह लिपि ध्वनियों की नहीं, बिम्बों की है। छत्रधारी मनुष्य कितने ही हैं, अत: वे लघु आकृतियों में हैं।

'बिम्ब' धीरे-धीरे रेखाकारों के रूप में परिवर्तित हो उठता है। तब हम इसे 3. रेखाकार चित्रलिपि कह सकते हैं।

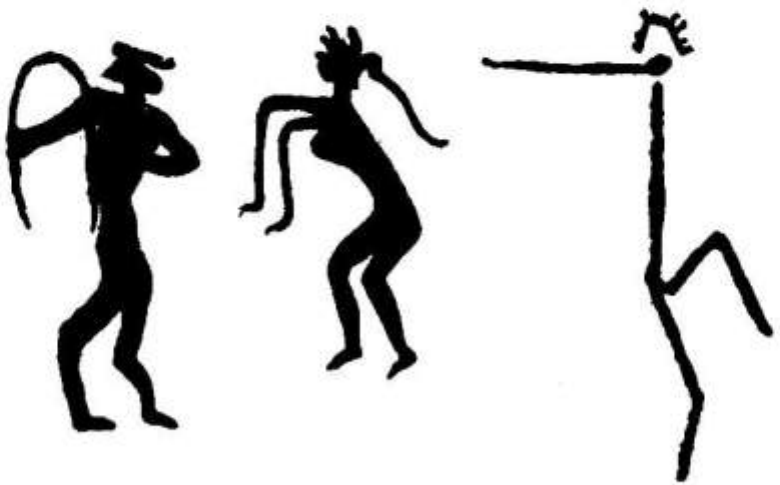

सहनर्तन, जम्बूद्वीप (पचमढ़ी)

आरोही नर्तक, कुप्पगल्लु
(बेलारी, रायचूर, द. भा.)

4. तब, आगे बिम्बलिपि और रेखाचित्रलिपि के संयोग से 'चित्रलिपि' प्रस्तुत हुई।

[ऐरिजोना (अमेरिका) में प्राप्त चित्रलिपि, जो प्राचीनतम लिपियों में से एक है।][1]

[2]

यूरोप की समस्त लिपियों का विकास ग्रीक लिपि से हुआ है। थेरा द्वीप में प्राप्त हुये ई.पू. 9वीं शती के प्राचीन लेख इसके प्रमाण हैं। इनमें से कुछ दाएँ से बाएँ और कुछ बाएँ से दाएँ लिखे हुए हैं। इसके बाद 7वीं ई.पू. सदी के उत्तरी मिश्र के अबू सिम्बेल नामक स्थान पर प्राप्त लेख आते हैं। इसी शृंखला में

1. पाण्डुलिपिविज्ञान : डॉ. सत्येन्द्र, पृ. 180
2. पाण्डुलिपिविज्ञान : डॉ. सत्येन्द्र से साभार

कोरिन्थ एवं अथेन के ई.पू. छठी सदी के लेख हैं। ई.पू. चौथी सदी तक आते-आते इन लेखों के पूर्वी और पश्चिमी - दो विभाग मिलते हैं। ग्रीक लिपि के वर्णों के नाम सामी हैं। रोम के उत्थान के पूर्व इटली और आस-पास के प्रदेशों में एत्रुस्की भाषा का प्रयोग मिलता है। इसके कुछ प्राचीन लेख भी उपलब्ध हुए हैं। इस लिपि के संबंध में लिपि वैज्ञानिकों का मत है कि यह इटली में 9वीं सदी ई.पू. में एशिया माइनर से आई थी और एशिया माइनरवासियों ने इसे ग्रीस से प्राप्त किया था। रोम से प्राप्त मिट्टी के बर्तनों पर लैटिन भाषा के पुराने लेख ई.पू. चौथी सदी के प्राप्त हुए हैं। इनकी लिपि ग्रीक और एत्रुस्की लिपि का मिलाजुला रूप है। बाद में इसे रोमनलिपि कहा जाने लगा। प्रारंभ में रोमनलिपि में 23 वर्ण थे जो 14वीं-15वीं सदी तक आते-आते 26 हो गये। यूरोप के उत्तरी प्रदेशों की रूनी लिपि पर काले सागर पर बसे हुए किसी ग्रीक उपनिवेश के वासियों का ई.पू. 600 में प्रभाव पड़ा था। इससे ही केल्टी की ओघ लिपि (5वीं सदी) का विकास हुआ। ग्रीक लिपि से 9वीं सदी में सिरिली एवं ग्लेगोलिथी लिपि का विकास माना जाता है।

आरमीनी लिपि के प्रमाण चौथी सदी से प्राप्त होते हैं। कुछ लोग इसे ईराकी या ग्रीक स्रोत की बताते हैं। अरमी लिपि के सबसे पुराने लेख लगभग 800 ई.पू. के उत्तरी सीरिया के सिन्दली नामक स्थान से प्राप्त हुए हैं। यह उत्तरी सामी की प्रधान लिपि थी। इससे हेब्रू लिपि का विकास हुआ। अरबी लिपि भी अरमी से ही विकसित हुई। इसके 5वीं सदी ई.पू. तक के प्रमाण मिलते हैं। 7वीं-8वीं सदी तक आते-आते इसके कूफ़ी और नस्खी - दो रूप हो गये। वर्तमान अरबी लिपि नस्खी का ही विकसित रूप है। ईरान में हरखमानी बादशाहों ने कीलाक्षर लिपि का प्रयोग किया था, किन्तु सिकन्दर की विजय के बाद वहाँ अरमी आ गई। सासानी शासकों की लिपि 'पहलवी' कहलाई। इस प्रकार डॉ. बाबूराम सक्सेना के अनुसार सामी जातियों ने लिपि का प्रयोग मिश्र देशवासियों से सीखा और सामी से अन्य जातियों ने। अनुमान है कि ई.पू. प्रथम या द्वितीय सदी में कुछ सामी जातियाँ मिश्र देश के दक्षिणी भाग में निवासियों के सम्पर्क में आईं और उन्हीं से लिपि का व्यवहार सीखा।'[1]

1. सामान्य भाषा विज्ञान, पृ. 252

भारत में ब्राह्मी और खरोष्ठी लिपियाँ विकसित हुईं। सम्राट अशोक के ई.पू. तीसरी सदी से लेकर तीसरी सदी ई. तक के खरोष्ठी के लेख इसके प्रमाण हैं। ये पश्चिमोत्तर भारत में प्राप्त हुए हैं। तीसरी सदी ई. में खरोष्ठी चीनी तुर्किस्तान में भी पहुँच गई थी। कहा जाता है कि अरमी लिपि का भारतीय रूपान्तरण ही खरोष्ठी लिपि है। ब्राह्मी लिपि से भारत की प्राय: सभी लिपियाँ विकसित हुई हैं।

4. देवनागरी लिपि और पूर्ववर्ती लिपियाँ

भारतीय भाषाओं के लिए प्रचलित देवनागरी लिपि से पूर्व भारत में निम्नलिखित लिपियाँ प्रचलित थीं –

(1) **कुटिललिपि** : छठी शताब्दी से 10वीं शती तक।

(2) **गुप्तलिपि** : सामान्यत: इसका समय गुप्त-वंश का राजत्वकाल माना जाता है। अशोक के अभिलेख इसी लिपि में लिखे गये थे। इस लिपि का समय 500 ई.पू. से 350 ई. तक माना जाता है।

(3) **ब्राह्मीलिपि** : मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की खुदाई में प्राप्त सामग्री, जो ईस्वी सन् से पूर्व कई हजार वर्ष पहले की है, में भी कुछ लेख जहाँ-तहाँ अंकित हैं। ये ऐसी लिपि में है जो ब्राह्मी और खरोष्ठी से मेल नहीं खाती और उससे एकदम भिन्न है। इस लिपि में चित्रलिपि एवं ध्वनिलिपि दोनों ही प्रयुक्त हैं। अधिकांश विद्वानों का कहना है कि "यह सारी सामग्री ऐसी सभ्यता की द्योतक है जिसका वैदिक आर्य सभ्यता से कोई संबंध नहीं।"[1] क्योंकि आज तक भी मोहनजोदड़ो की लिपि की भाषा का कुछ भी ज्ञान नहीं है। इसलिए इसे ठीक-ठीक उद्घाटित नहीं किया जा सका। सच तो यह है कि "अब ये परिकल्पनाएँ (हाइपोथीसिस) ही हैं। अभी तक भी हम सिन्धुघाटी की लिपि पढ़ सके हों, ऐसा नहीं लगता।"[2]

इस सबका कारण यह है कि यह सभ्यता आर्यों के भारत आगमन से पूर्व की द्रविड़ सभ्यता है। आर्यों के आगमन से पूर्व द्रविड़ सारे भारतवर्ष में बसे हुए थे। अब आर्यों के आगमन का सिद्धान्त तथा द्रविड़ों का आर्यों से भिन्न नस्ल का होने का नृतात्विक सिद्धान्त, ये दोनों ही पूर्णत: सिद्ध प्रमेय नहीं माने जा

1. सामान्य भाषा विज्ञान : डॉ. बाबूराम सक्सेना, पृ. 253
2. पाण्डुलिपिविज्ञान : डॉ. सत्येन्द्र, पृ. 194

सकते, न अकाट्य प्रमाणों से पुष्ट हैं।[1] एक और बात - सिंधु लिपि में मिश्र की चित्रलिपि तथा सुमेर की लिपि के साथ ब्राह्मीलिपि के साम्य भी हैं। इससे कल्पना की गयी कि इसमें मिश्र और सुमेर के उधार लिए शब्द और वर्ण हैं। इसका कारण निम्नलिखित ऐतिहासिक परम्पराएँ हो सकती हैं -

(1) प्राचीन मिश्र की सभ्यता के लोग पश्चिमी एशिया से आये थे।

(2) यूनानी प्रमाणों से फोनेशियन्स, जो कि प्राचीनकाल के महान सामुद्रिक यात्रा-दक्ष और संस्कृति-प्रसारक लोग थे, त्यर (Tyr.) में उपनिवेश बनाकर रहते थे, जो कि पश्चिमी एशिया का बड़ा बन्दरगाह था।

(3) सुमेरियन लोग स्वयं भी समुद्र के मार्ग से बाहर से आये थे।

(4) प्राचीन भारतीय परम्पराओं के अनुसार आई जातियाँ उत्तर-पश्चिमी भारत से उत्तर की ओर और पश्चिम की ओर गयी थीं।

इन परिस्थितियों में कहा जा सकता है कि या तो आर्य लोग या उनके असुर नाम के बन्धुओं ने सिंधुघाटी की लिपि का निर्माण किया। वे ही उसे पश्चिमी एशिया और मिश्र में ले गये थे। इस प्रकार संसार के उन भागों में लिपि के विकास को प्रोत्साहित किया।[2] लेकिन सिंधुघाटी-सभ्यता विषयक विविध समस्याएँ अभी समस्याएँ ही बनी हुई हैं। यह सभ्यता भी केवल सिंधुघाटी तक सीमित नहीं थी, अब तो मध्यप्रदेश और राजस्थान की खुदाइयों में भी इसके अनेक प्रमाण मिले हैं। लगता है यह किसी महान जलप्लावन से पूर्व की संस्कृति एवं सभ्यता थी।

ऐतिहासिक काल की सामग्री में अशोक के शिलालेखों के पूर्व के केवल दो छोटे-छोटे शिलालेख प्राप्त हुए हैं; एक अजमेर के बड़ली गाँव में और दूसरा नेपाल की तराई में गोरखपुर के पास पिप्रावा नामक स्थान पर। "पहला एक स्तम्भ पर खुदे हुए लेख का टुकड़ा है, जिसकी पहली पंक्ति में 'वीर (I) य भगव (त)' और दूसरी में 'चतुरासिति व (स)' खुदा है। इस लेख का 84वाँ वर्ष जैनों के अन्तिम तीर्थंकर वीर (महावीर) के निर्वाण संवत् का 84वाँ वर्ष होना चाहिए। यदि यह अनुमान ठीक हो तो यह लेख ई. पूर्व (527-84)

1. Cultural contacts between Aryon & Dravodians : Nilkanth Shastri, P. 2
2. Indian Paleography : Dr. R.B. Pandey, P. 34

443 का होगा। इसकी लिपि अशोक के लेखों की लिपि से पहले की प्रतीत होती है। इसमें 'वीराय' का 'वी' अक्षर है। उक्त 'वी' में जो 'ई' की मात्रा का चिह्न है वह न तो अशोक के लेखों में और न उनसे पीछे के किसी लेख में मिलता है, अतएव वह चिह्न अशोक से पूर्व की लिपि का होना चाहिए, जिसका व्यवहार अशोक के समय तक मिट गया होगा और उसके स्थान में नया चिह्न व्यवहार में आने लग गया होगा। दूसरे अर्थात् विप्रावा के लेख से प्रकट होता है कि बुद्ध की अस्थि शाक्य जाति के लोगों ने मिलकर उस स्तूप में स्थापित की थी। इस लेख को बूलर ने अशोक के समय से पहले का माना है। वास्तव में यह बुद्ध के निर्वाण-काल अर्थात् ई. पूर्व 487 के कुछ ही पीछे का होना चाहिए। इन शिलालेखों से प्रकट है कि ई. पूर्व की पाँचवीं शताब्दी में लिखने का प्रचार इस देश में कोई नई बात न थी।'"

"बूलर इस अनुमान को मानते हैं कि वैदिक समय में लिखित पुस्तकें मौखिक शिक्षा की मदद के लिए काम में लाई जाती थीं। यहाँ ताड़पत्र, भोजपत्र आदि लिखने की सामग्री प्राचीनकाल से ही प्रकृति ने प्रचुर मात्रा में दे रक्खी थी और ई.पू. चौथी सदी में रुई से कागज बनाया जाने लगा था। इस विवरण से यही एक निष्कर्ष संभव है कि भारतीय आर्य लोगों को लिखने की कला काफी प्राचीनकाल से मालूम थी। यदि ऋग्वेद के अन्तिम मंडल के सूक्तों को ई.पू. 1200 का भी मान लिया जाए तो उस समय भी यह कला भारतीयों को ज्ञात थी।"[2]

5. खरोष्ठी लिपि

भारत में प्राचीनलिपियों में एक लिपि खरोष्ठी भी है। अशोक के शहबाजगढ़ी और मनसेहरा वाले लेख खरोष्ठीलिपि में हैं। इस लिपि का कोई दूसरा लेख, जो अशोक से पूर्व का हो, उपलब्ध नहीं होता। अशोक के पूर्व इस लिपि का एक-एक अक्षर ईरानी सिक्कों पर मिलता है, जो ई.पू. चौथी सदी के माने जाते हैं। ब्राह्मी लिपि की तुलना में खरोष्ठीलिपि के लेख बहुत कम हैं। ये भी भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश और पंजाब में ही पाए गए हैं, शेष भाग में

1. प्राचीन लिपिमाला : डॉ. गौ. ही. ओझा, पृ. 2,3
2. सामान्य भाषा विज्ञान : डॉ. बाबूराम सक्सेना, पृ. 255-56

ब्राह्मी के लेख हैं। खरोष्ठी दाएँ से बाएँ को चलती है। इसके 11 अक्षर - क, ज, द, न, ब, य, र, व, ष, स, ह - समान उच्चारण वाले अरमइक अक्षरों से मिलते-जुलते हैं। अरमइक में 22 अक्षर थे। इसलिए अनुमान है कि "ईरानियों के राजत्व काल में उनके अधीन के हिन्दुस्तान के इलाके में उनकी राजकीय लिपि अरमइक का प्रवेश हुआ हो और उसी से खरोष्ठीलिपि का उद्भव हुआ हो।"[1] अरमइक में भी स्वरों की अपूर्णता तथा ह्रस्व और दीर्घ मात्राओं के भेद का अभाव था। बाद में किसी खरोष्ठ नामक आचार्य (शायद तक्षशिला के) ने इसे संशोधित कर प्रचारित किया, जिससे यह खरोष्ठी कहलाई। इस लिपि का प्रचार पंजाब में तीसरी सदी ई. तक रहा। बाद में विलुप्त हो गई।

6. ब्राह्मी लिपि

भारत में ब्राह्मी लिपि के लेख पाँचवीं सदी ई.पू. प्राप्त होते हैं। भारत में यही सर्वश्रेष्ठ लिपि समझी जाती है। जैनों के पन्नवणासूत्र तथा समवायग सूत्र में जिन 18 लिपियों के नाम आये हैं उनमें खरोष्ठी का भी नाम है। 'ललित-विस्तर' में उल्लेखित 64 लिपियों में प्रथम ब्राह्मी और द्वितीय खरोष्ठी है। लेकिन शुद्धता और सम्पूर्णता की दृष्टि से ब्राह्मी खरोष्ठी से श्रेष्ठ है।

ब्राह्मी को, दिल्ली के अशोक-स्तम्भ पर अंकित ब्राह्मी को, एक व्यक्ति ने यूनानी लिपि मानते हुए अलेक्जेंडर की विजय का लेख माना था। काशी के किसी ब्राह्मण ने एक मनगढ़न्त भाषा और उसकी लिपि बताई; किसी ने उसे तंत्राक्षर तो किसी ने पहलवी माना। लेकिन बाद में डॉ. प्रिन्सेप आदि विद्वानों के प्रयास से ब्राह्मी अक्षरों के पढ़े जाने पर पिछले समय के सभी लेख पढ़ना आसान हो गया। क्योंकि भारत की समस्त प्राचीन लिपियों का मूल यही ब्राह्मी लिपि है।[2]

7. ब्राह्मी की उत्पत्ति

ब्राह्मीलिपि की उत्पत्ति के बारे में दो प्रकार की विचारधाराएँ मिलती हैं। प्रथम विचारधारा के विद्वानों ने इसे किसी विदेशी लिपि से उत्पन्न माना है, तो दूसरी विचारधारा के विद्वानों ने इसे भारत की अपनी उपज माना है।

1. सामान्य भाषा विज्ञान : डॉ. बाबूराम सक्सेना, पृ. 256
2. भारतीय प्राचीन लिपिमाला : डॉ. ओझा, पृ. 39-40

विदेशी लिपि से उत्पत्ति माननेवाले विद्वान - डॉ. विल्सन, प्रिंसेप, आफ्रैडमूलर, सेनार्ट आदि विद्वानों ने ब्राह्मी की उत्पत्ति ग्रीकलिपि या फ़ोनीशी लिपि से मानी थी। डॉ. डीके ने ब्राह्मी की उत्पत्ति असीरी कीलाक्षरों से किसी दक्खिनी सामी लिपि द्वारा हुई माना है। लेकिन अब कोई भी विद्वान् असीरी या चीनी लिपि से ब्राह्मी की उत्पत्ति नहीं मानते। विलियम जोंस, वेबर, टेलर, बूलर आदि विद्वानों ने ब्राह्मी की उत्पत्ति सामी के उत्तरी-दक्खिनी रूप से बतलाई है। इसमें भी वे (बूलर) उत्तरी सामी से ही ब्राह्मी की उत्पत्ति मानते हैं। लेकिन इस प्रक्रिया में भी बूलर ने अटकलें ही लगाई हैं, जो मान्य नहीं। टेलर दक्खिनी सामी से ब्राह्मी की उत्पत्ति मानते हैं। लेकिन यह मत भी मान्य नहीं हुआ।

8. ब्राह्मी भारतीय लिपि है

इस मत के मानने वाले विद्वानों में एडवर्ड टामस, डासन, कनिंघम, गौरीशंकर हीराचंद ओझा और डॉ. तारापुरवाला आदि विद्वान हैं। इन विद्वानों का मानना है कि ब्राह्मीलिपि "भारतवर्ष के आर्यों की अपनी खोज से उत्पन्न किया हुआ मौलिक आविष्कार है। इसकी प्राचीनता और सर्वांग सुन्दरता से चाहे इसका कर्ता ब्रह्मदेवता माना जाकर इसका नाम ब्राह्मी पड़ा, चाहे साक्षर समाज ब्राह्मणों की लिपि होने से यह ब्राह्मी कहलाई हो। और चाहे ब्रह्म (ज्ञान) की रक्षा के लिए सर्वोत्तम साधन होने के कारण इसको यह नाम दिया गया हो। इस देश में इसकी विदेशी उत्पत्ति का सूचक कोई प्रमाण नहीं मिलता।"[1] अत: यह कहा जा सकता है कि किसी भी ज्ञात विदेशी लिपि से ब्राह्मी की उत्पत्ति नहीं हुई।

9. ब्राह्मी वर्णमाला

प्रिंसेप आदि विद्वानों के प्रयास से अशोककालीन ब्राह्मीलिपि की जिस वर्णमाला को खोज निकाला है, वह इस प्रकार है -

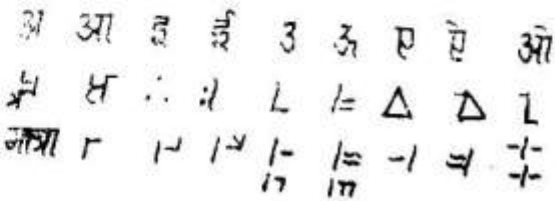

1. सामान्य भाषा विज्ञान : डॉ. बाबूराम सक्सेना, पृ. 259

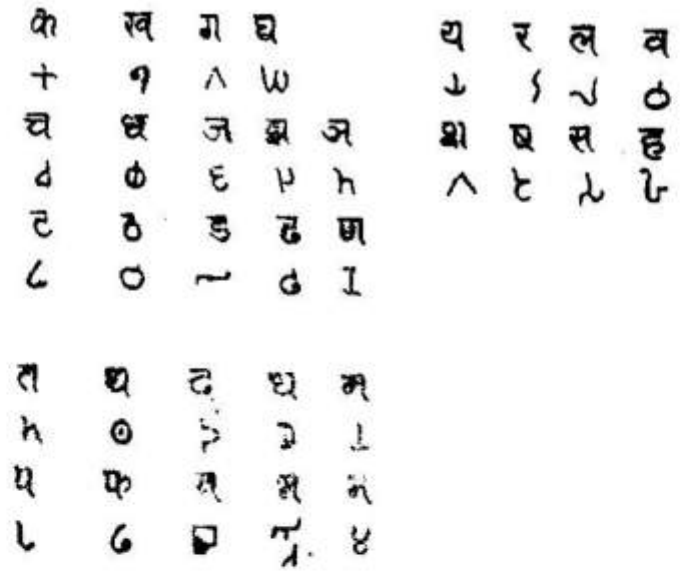

फलक 1 (पं. उदयशंकर शास्त्री का चार्ट)

हस्तलेखों की वर्णमाला 1

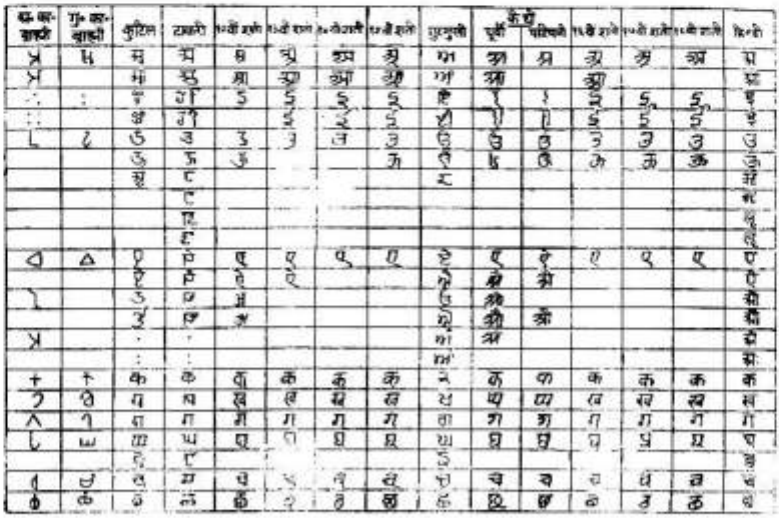

1. पं. उदयशंकर शास्त्री के चार्ट से साभार – पाण्डुलिपि विज्ञान से, पृ. 199

फलक 2

(पं. उदयशंकर शास्त्री का चार्ट)

हस्तलेखों की वर्णमाला

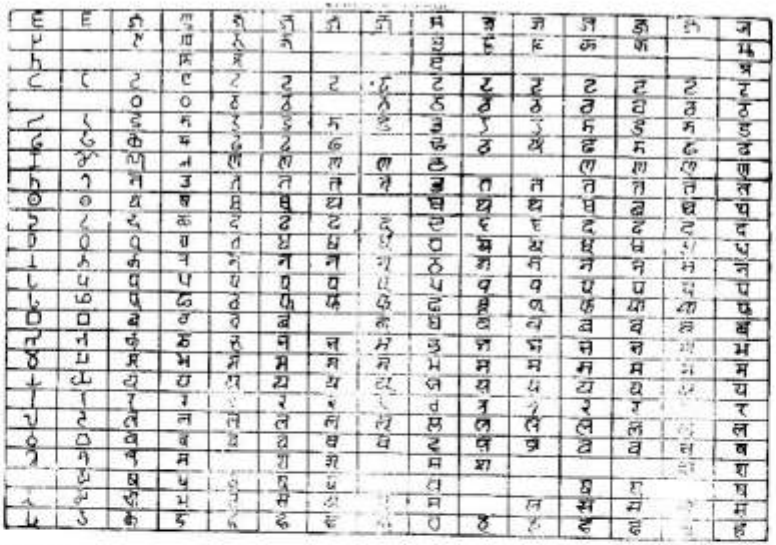

फलक 3

(पं. उदयशंकर शास्त्री का चार्ट)

मात्रायें

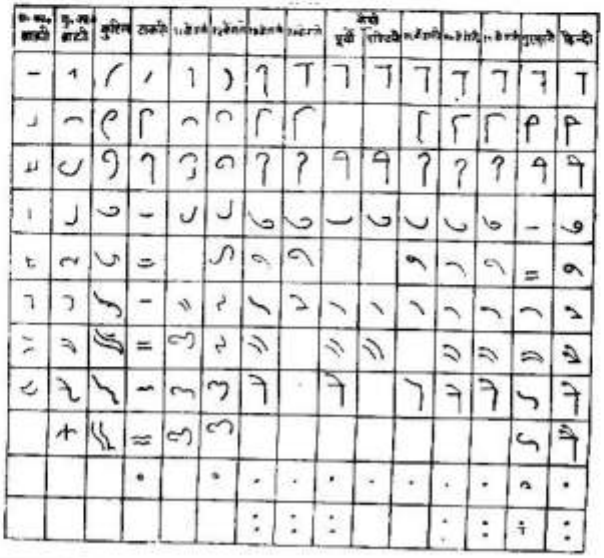

(पं. उदय शंकर शास्त्री का चार्ट)

नागरीअक

६ ठी शती	९वीं शती	१२वीं शती पश्चिमोत्तरी से	१३वीं-१४वीं शती पूर्वी से	शारदा	टाकरी	कैथी	मैथिली	हिन्दी
१	१	१	१	१	१	१	१	१
२	२	२	२	३	३	२	२	२
३	३	३	३	३	२	३	३	३
४	४	४	९	४	४	४	४	४
५ ५	५	५	५	५	५	५	५	५
२	६	६	६	६	६	६	६	६
७ ७	७	७	९७	७	७	७	७	७
८ ८	८	८	८	८	८	८	८	८
९	९	९	९	९	९	९	९	९
०	०	१	०	०	०	०	०	०

पाण्डुलिपिविज्ञान : डॉ. सत्येन्द्र से साभार

एक बात और है। मद्रास प्रान्त (तमिलनाडु) के कृष्णा जिले से प्राप्त भट्टिप्रोलु के स्तूप के लेखों की लिपि विप्रावा, बड़ली एवं अशोक की लिपियों से भिन्न है। लगता है यह दक्षिण की लिपि किसी पूर्ववर्ती ब्राह्मीलिपि के परकालीन रूप से निकली द्राविड़ लिपि है, जिसका उल्लेख 'ललितविस्तर'[1] नामक ग्रंथ में भी हुआ है। इसलिए ई.पू. 500 से ई. 350 तक के लेखों को ब्राह्मीलिपि के नाम से संबोधित किया जाता है।

1. मूल ललितविस्तार' ग्रंथ संस्कृत में है। इसमें भगवान बुद्ध का चरित्र वर्णित है। इसके रचनाकाल का ठीक ठीक पता नहीं चलता, परन्तु चीनी भाषा में अनुवाद 308 ई. में हुआ था। डॉ. राजवली पाण्डेय ने 'इण्डियन पेलियोग्राफी', पृ. 26 पर बताया है कि यह कृति अपने चीनी अनुवाद से कम से कम एक या दो शताब्दी पूर्व की तो होनी ही चाहिए। पाण्डुलिपिविज्ञान, डॉ. सत्येन्द्र, फुटनोट, पृ. 200

10. भारत में प्रचलित लिपियाँ

प्राचीन भारत में, प्रसिद्ध बौद्ध ग्रंथ 'ललित विस्तार' के आधार पर पं. गोपालनारायण बहुरा जी ने 64 लिपियों के प्रचलित रहने की बात कही है। वे निम्नलिखित हैं - 1. ब्राह्मी, 2. खरोष्ठी, 3. पुष्करसारी, 4. अंगलिपि, 5. बंगलिपि, 6. मगधलिपि, 7. मंगल्यलिपि, 8. मनुष्यलिपि, 9. अंगुलीयलिपि, 10. शकारिलिपि, 11. ब्रह्मवल्ली, 12. द्राविड़, 13. कनारि, 14. दक्षिण, 15. उग्र, 16. संख्यालिपि, 17. अनुलोम, 18. ऊर्ध्वधनु, 19. दरदलिपि, 20. खास्यलिपि, 21. चीनी, 22. हूण, 23. मध्याक्षर लिपि, 24. पुष्पलिपि, 25. देवलिपि, 26 नागलिपि, 27. यक्षलिपि, 28. गंधर्वलिपि, 29. किन्नरलिपि, 30 महोरगलिपि, 31. असुरलिपि, 32. गरुड़लिपि, 33. मृगचक्रलिपि, 34. चक्रलिपि, 35. मायुमरुलिपि, 36. भौमदेवलिपि, 37. अन्तरिक्ष देवलिपि, 38. उत्तर बुद्धद्वीपलिपि, 39. अपर गौड़ादिलिपि, 40. पूर्वविदेहलिपि, 41. उत्क्षेपलिपि, 42. निक्षेपलिपि, 43. विक्षेपलिपि, 44. प्रक्षेपलिपि, 45. सागरलिपि, 46. वज्रलिपि, 47. लेख प्रतिलेख लिपि, 48. अनुद्रुतलिपि, 49. शास्त्रवर्तलिपि, 50. गणावर्तलिपि, 51. उत्क्षेपावर्तलिपि, 52. विक्षेपावर्त, 53. पादलिखितलिपि, 54. द्विरुत्तरपद संधि लिखित लिपि, 55. दशोत्तरपदसंधि लिखित लिपि, 56. अध्याहारिणी लिपि, 57. सर्वरुत संग्रहणी लिपि, 58. विद्यानुलोमलिपि, 59. विमिश्रितलिपि, 60. ऋषितपस्तप्तलिपि, 61. धरणीप्रेक्षजालिपि, 62. सर्वौषध निष्यन्दलिपि, 63. सर्वसारसंग्रहणी लिपि, 64. सर्वभूतरुद् ग्रहणी लिपि।

उपर्युक्त लिपियों में बहुत से नाम तो लिपिद्योतक न होकर लेखन प्रकार के हैं, कितने ही कल्पित और कितने ही नाम पुनरावृत्त भी हैं, किन्तु डॉ. राजबली पाण्डेय की मान्यता कुछ भिन्न प्रकार की है, वे कहते हैं कि - ''ऊपर की सूची में भारतीय तथा विदेशी उन लिपियों के नाम हैं जिनसे उस काल में, जबकि ये पंक्तियाँ लिखी गई थीं, भारतीय परिचित थे या जिनकी कल्पना उन्होंने की थी। पूरी सूची में से केवल दो ही लिपियाँ ऐसी हैं जिन्हें साक्षात् प्रमाण के आधार पर पहचाना जा सकता है। ये दो लिपियाँ ब्राह्मी और खरोष्ठी हैं। चीनी विश्वकोष फा-वन-सुलिव (668 ई.) इस प्रसंग में हमारी सहायता करता है। इसके अनुसार लेखन का आविष्कार तीन दैवी शक्तियों ने किया था, इनमें पहला देवता

था फन (ब्रह्मा), जिसने ब्राह्मी लिपि का आविष्कार किया, जो बायें से दायें लिखी जाती है, दूसरी दैवी शक्ति थी किया लू (खरोष्ठ) जिसने खरोष्ठी का आविष्कार किया, जो दायें से बायें लिखी जाती है, तीसरी और सबसे कम महत्वपूर्ण दैवी शक्ति थी त्साम-की (Tsamki) जिसके द्वारा आविष्कृत लिपि ऊपर से नीचे की ओर लिखी है। यही विश्वकोष हमें आगे बताता है कि पहले दो देवता भारत में उत्पन्न हुए थे और तीसरा चीन में ....।"[1]

'ललितविस्तार' में वर्णित 64 लिपियों का वर्गीकरण निम्न प्रकार कर सकते हैं -

1. **ब्राह्मी** - भारत की अकारादिक (Alphabetic) प्रणाली की प्राचीन एवं प्रचलित लिपि।
2. **खरोष्ठी** - भारत के उत्तर-पश्चिम की लिपि, किन्तु वर्णमाला ब्राह्मी के समान थी।
3. **विदेशी लिपियाँ** - (भारत में ज्ञात)
   (क) यवनानी (यवनाली) - यूनानी (ग्रीक) लिपि से व्यापार के माध्यम से भारत इस लिपि से परिचित था। यह कुषाणकालीन सिक्कों पर भी अंकित मिलती है।
   (ख) दरदलिपि (दरद लोगों की)
   (ग) खस्यालिपि (खशों और शकों की)
   (घ) चीनी लिपि (चीन की)
   (ङ) हूणलिपि (हूणों की)
   (च) असुरलिपि (असुरों की - जो पश्चिम एशिया में आर्यों की शाखा के ही थे।
   (छ) उत्तर कुरुद्वीप लिपि - (उत्तर कुरु, हिमालय और उत्तर क्षेत्र की लिपि)
   (ज) सागरलिपि - (समुद्री क्षेत्रों की लिपि)

1. Indian Palaeography : R.B. Pandey. PP 25-26

4. **प्रादेशिक लिपियाँ** -

1. पुखरसारीय - (पुष्करसारीय - पश्चिमी गांधार में प्रचलित)
2. पहारइय - (उत्तर पहाड़ी क्षेत्र की लिपि)
3. अंगलिपि (अंग, उत्तर-पूर्व बिहार की)
4. बंगलिपि - (बंगाल में प्रचलित लिपि)
5. मगधलिपि
6. द्रविड़लिपि (दमिलि - द्रविड़ प्रदेश की)
7. कनारीलिपि
8. दक्षिणलिपि
9. अपर गौड़ाद्रिड-लिपि (पश्चिमी गौड़ प्रदेश की)
10. पूर्व विदेहलिपि (पूर्व विदेह की)

5. **जनजातियों (Tribal) की लिपियाँ**

(अ) गंधर्व लिपि (हिमालय की जनजाति)।

(आ) पौलिंदी (पुलिंदो-विंध्यक्षेत्र के लोगों की लिपि)

(इ) उग्रलिपि (उग्रलोगों की)

(ई) नागलिपि (नागों की)

(उ) यक्षलिपि (यक्ष-हिमालय की जनजाति की)

(ऊ) किन्नलिपि (किन्नरों-हिमालय की जनजाति की)

(ए) गरुड़लिपि (गरुड़ों की लिपि)

6. **साम्प्रदायिक लिपियाँ**

(क) महेसरी (माहेश्वरी-शैवों में प्रचलित लिपि)

(ख) भौमदेव लिपि [भूमि के देवता (ब्राह्मण) द्वारा प्रयुक्त लिपि]

7. **चित्ररेखान्वित लिपियाँ**

(क) मंगल्य लिपि (एक मंगलकारी लिपि)

(ख) मनुष्य लिपि (मानव आकृतियों के उपयोग वाली लिपि)

(ग) अंगुलीय लिपि (अँगुलियों के आकार की लिपि)

(घ) उर्ध्व धनु लिपि (चढ़े हुए धनुषाकार की लिपि)

(ङ) पुष्पलिपि (पुष्पांकित)

(च) मृगचक्र लिपि (पशुओं के चक्रों का उपयोग किया जाने वाली लिपि)

(छ) चक्रलिपि (चक्राकार रूपवाली)

(ज) वज्रलिपि (वज्र के समरूप वाली लिपि)

8. स्मरणोपकरी लिपि (Mnemonic)

(अ) अंकलिपि (संख्यालिपि)

(आ) गणितलिपि (गणित के माध्यम वाली लिपि)

9. उभारी या खोदी हुई लिपि

आदश या आयशलिपि (कुतरी हुई लिपि)

10. शैलीपरक लिपियाँ

(1) उत्क्षेप लिपि (ऊपर की ओर उभारकर या उछालकर लिखी गई लिपि)।

(2) निक्षेप लिपि (नीचे की ओर बढ़ाकर लिखी गयी)

(3) विक्षेप लिपि (सब ओर से लंबित लिपि)

(4) प्रक्षेप लिपि (एक ओर विशेष संवर्द्धित)

(5) मध्यक्षर विस्तार लिपि (मध्य अक्षर को विशेष संवर्धित किया गया हो)

11. संक्रमण-स्थिति द्योतक लिपि - इसे विमिश्रित लिपि भी कहते हैं। इसमें चित्ररेखा, अक्षर एवं वर्ण का विमिश्रण होता है।

12. त्वरा लेखन - (क) अनुद्रुत लिपि (शीघ्रगति से लिखी जाने वाली)

13. पुस्तकों हेतु विशिष्ट शैली - शास्त्रावर्त लिपि

14. हिसाब-किताब हेतु विशिष्ट शैली - गणावर्त लिपि (गणित मिश्रित कोई लिपि)

15. दैवी या काल्पनिक लिपियाँ

(1) देव लिपि

(2) महोरग लिपि (उर्ग-सर्पों की लिपि)

(3) वायुमरु लिपि (हवाओं की लिपि)

(4) अन्तरिक्ष-देव लिपि (आकाश के देवताओं की लिपि)

अन्तिम, दैवी या काल्पनिक लिपियों के अलावा शेष सभी भेद भारत की विविध भागों की लिपियों में, पड़ोसी देशों की लिपियों में, प्रादेशिक लिपियों या अन्य चित्ररेखान्वयी या आलंकारिक लेखन आदि में मिल जाती हैं।[1] मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की लिपि विमिश्रित कहलाती है, जिसमें संक्रमण-सूचक चित्र रेखक, भावचित्र रेखिक तथा ध्वनि चिह्नक (अक्षर) रूप मिले होते हैं।[2]

किन्तु अन्यत्र 18 लिपियों का उल्लेख कई ग्रंथों में हुआ है। जैनों के 'वर्णक समुच्चय', पन्नवणा सूत्र, जैन समवायांग सूत्र, विशेषावश्यक सूत्र नामक ग्रंथों में 18 लिपियों का उल्लेख हुआ है।[3]

डॉ. बाबूराम सक्सेना ने भारत की समस्त लिपियों को ई.पू. 500 के निकट से ई. 350 तक के लेखों में व्यवहृत लिपि को ब्राह्मी लिपि कहा है। इसके बाद इस लिपि के लिखने में दो प्रवाह दिखाई देते हैं, उत्तरी और दक्खिनी। उत्तरी शैली का प्रचार प्राय: विन्ध्यपर्वत के उत्तर में और दक्खिनी का उसके दक्षिण में रहा। उत्तरी से निम्नलिखित लिपियाँ विकसित हुईं -

(1) गुप्तलिपि - चौथी-पाँचवीं शदी में प्रचारित, गुप्तवंशी राजाओं के लेखों की लिपि।

(2) कुटिललिपि - गुप्त लिपि से निकली छठी से नवीं सदी ई. तक प्रचारित लिपि। इसके अक्षरों (मात्राओं) की आकृति कुटिल होने से इसे कुटिल लिपि कहते हैं।

(3) नागरीलिपि - आठवीं से 16वीं सदी के पिछले भाग तक विकसित नागरी लिपि की पूर्वी शाखा से बंगला लिपि का विकास हुआ। इसी से ही कैथी,

1. Indian Palaeography : R.B. Pandey. P. 25-28
2. वही, पृ. 29
3. पाण्डुलिपिविज्ञान : डॉ. सत्येन्द्र, पृ. 203-4

महाजनी, राजस्थानी और गुजराती लिपियाँ भी निकलीं। दक्खिन में इसको नंदिनागरी कहते हैं।

(4) शारदा - भारत के उत्तर-पश्चिम (पंजाब-कश्मीर) में प्रचारित 18वीं सदी तक वहाँ प्रचारित कुटिल लिपि से ही बाद में शारदा लिपि का विकास हुआ। इस लिपि का प्राचीनतम लेख 10वीं सदी ई. का मिलता है। वर्तमान कश्मीरी, टाकरी, गुरुमुखी लिपियों का विकास इसी से हुआ है।

(5) बंगला - 10वीं सदी के आस-पास नागरी लिपि से विकसित हुई। इससे बाद में नेपाली, वर्तमान बंगला, मैथिली और उड़िया लिपियों का विकास हुआ।

(6) उत्तरी के अतिरिक्त, ब्राह्मी का पश्चिमी रूप - यह लिपि काठियावाड़, गुजरात, नासिक, खानदेश, हैदराबाद, कोंकण, मैसूर आदि के लेखों में 5वीं से 9वीं सदी तक मिलती है। पाँचवीं सदी के आस-पास इसका कुछ प्रभाव राजस्थान एवं मध्यभारत पर भी पड़ा। भारत के पश्चिमी प्रदेश में मिलने के कारण ही यह पश्चिमीलिपि कहलाती है।

(7) मध्यदेशी - यह लिपि मध्यप्रदेश, हैदराबाद के उत्तरी भाग और बुंदेलखण्ड में 5वीं से 8वीं सदी तक मिलती है। इस लिपि के अक्षर प्रायः चौकोर होते हैं।

(8) तेलगू-कन्नड़ी - वर्तमान तेलगू एवं कन्नड़ इसी से निकली है। यह हैदराबाद, मैसूर, मद्रास, बम्बई के दक्खिनी भाग में 5वीं सदी से 14वीं सदी तक प्रचारित रही है।

(9) ग्रंथलिपि - वर्तमान तमिल, मलयालम इसी से विकसित हुई। यह लिपि मद्रास में 7वीं से 15वीं सदी तक प्रचारित रही। संस्कृत ग्रंथों को इसलिपि में लिखने के कारण यह ग्रंथलिपि कहलाती है।

(10) कलिंगलिपि - 7वीं से 11वीं सदी तक इसके लेख मिलते हैं। प्राचीन लेख मध्य प्रदेशी लिपि से और पिछले नागरी, तेलगू, कन्नड़ी तथा ग्रंथलिपि से मिलते है।

(11) तमिललिपि – यह 7वीं सदी से वर्तमान तक, ग्रंथलिपि से विकसित लिपि है। तमिल का ही घसीट का एक रूप टेलुत्तु है, जिसका 14वीं सदी तक प्रचार रहा।[1]

इनके अलावा हमारे देश में उर्दू और रोमन लिपियाँ भी प्रचलित हैं, जो दो विभिन्न राज-सत्ताओं की देन हैं, जिनसे वर्तमान सत्ता भी छुटकारा नहीं पा सकी। भारत की राष्ट्रलिपि देवनागरी है।

11. देवनागरी लिपि : समस्याएँ

ऐतिहासिक दृष्टि से लिपि के स्वरूप एवं विविध लिपियों की वर्णमाला पर विचार करने के बाद देवनागरी लिपि के अक्षरों पर विचार करते हैं। डॉ. सत्येन्द्रजी ने पाण्डुलिपिविज्ञान के पृ. 207 पर विशिष्ट अक्षरों की एक अक्षरावली दी है। वह अक्षरावली नीचे दी जाती है।

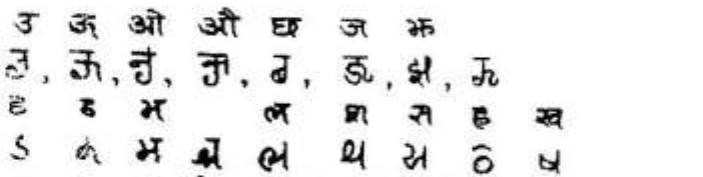

संयुक्त वर्ण

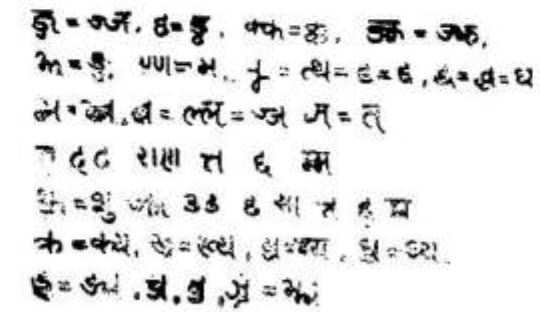

इस अक्षरावली पर दृष्टि डालने से एक बात तो यह विदित होती है कि 'उ ऊ ओ औ' चारों स्वरों में 'मूल स्वर' का एक रूप है। 'उ ऊ' में भी और 'ओ

1. सामान्य भाषा विज्ञान, पृ. 60-62

औ' में भी वह है । इसमें शिरोरेखा देकर 'उ' बनाया गया है। इसी में 'ऊ' की मात्रा लगाकर 'ऊ' बनाया गया है। यह 'ऊ' की मात्रा है - '2' और यह अशोककालीन ब्राह्मी की 'ऊ' की मात्रा का ही अवशेष है जो आज तक चला आ रहा है। ओ औ में 2 की रेखा को 3 की भाँति वृत्तांवित्त या घुण्डीयुक्त कर दिया गया है। फिर 3 पर शिरोरेखा में अशोक लिपि की परम्परा मिलती है। दोनों ओर '—' यह लगाने से 'औ' बनता है। ये 'औ' की मात्राएँ हैं। 'औ' की मात्रा में भी एक रेखा (ऊ) की मात्रा के सिर पर चढ़ाई गई है। ये ब्राह्मी के अवशेष हैं। यही प्रवृत्ति कु-कू में भी मिलती है। के, कै, को, कौ में बंगला लिपि की मात्राओं से सहायता ली गई है।

अब यहाँ कुछ विस्तार से राजस्थान के ग्रन्थों में मिलने वाली अक्षरावली या वर्णमाला पर विस्तार से वैज्ञानिक विश्लेषणपूर्वक विचार डॉ. हीरालाल माहेश्वरी के शब्दों में दिये जाते हैं : राजस्थानी की और राजस्थान में उपलब्ध प्रतियों के विशेष संदर्भ में उनकी वर्णमाला विषयक ज्ञातव्य बातें निम्नलिखित हैं -

1. (क) राजस्थान में उपलब्ध ग्रन्थों में प्रयोग में आयी देवनागरी की वर्णमाला की कुछ विशेषताएँ कहीं-कहीं मिलती हैं। उन्हें हम इन वर्गों में विभाजित कर सकते हैं :
   (अ) विवादास्पद वर्ण
   (आ) भ्रान्त वर्ण
   (इ) प्रमाद से लिखे गये वर्ण
   (ई) विशिष्ट वर्ण चिह्न, उनका प्रयोग करना अथवा न करना तथा
   (उ) उदात्त-अनुदात्त-ध्वनि वर्ण।

   पहले प्रत्येक के एकाध उदाहरण देकर इनको स्पष्ट करना है -
   (अ) विवादास्पद (Controversial) वर्णों के उदाहरण

   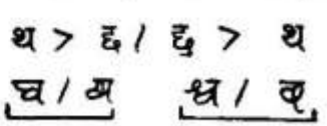

   (सं. 1887 पोह सुदि 1 को लिखे गए बीकानेर परवाने से) अन्य परवानों में भी ऐसे ही रूप दोनों के मिलते हैं, सं. 1907 तक।)

प्रयोग के उदाहरण

थाप > ढाप /ठेक > थेक
था > ढा /थड़ी > थड़ी
थो > ढो/छुणछुणो > शुणशुणो

2. र > द। द > र।

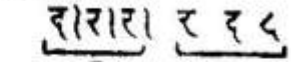

(ये रूप सभी प्रतियों और परवानों में)

चवरा > चवदा। चवदा > चवरा

(4) (14)

3. थ > व। ब > थ। (ब)

थोवड़ो > बोवड़ो।

(आ)

1. छ > ब। ब > छ

छुरी > बुरी। (परनारी 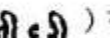) बंद > छंद।
(परनारी बुरी) पद्घड़िया छद।

छाप > बाप > अै तो म्हारे छाप का।
अै तो म्हारे बाप का॥

2. ट > ढ।

बट बट गया इवांणी (अज्ञानी पृथक्-पृथक् हो गए)। (मेल-मिलाप न रखकर) बढ बढ गया इवांणी (अज्ञानी कह बढ़ गए)

3. भ > म।

भरेड़ी > मरेड़ी

4. स > म।

सिसियर > मिसियर

(चन्द्रमा) (काला, काले वर्ण का, काले वर्ण के समूह का)

5. छ > ध।

छमछम करती आई।

धमधम करती आई।

6. च > व
चांदणो > बांदणो

7. ज > त।
जाण्यो तेरो जत।
जाण्यो तेरो तत।
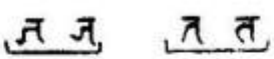

8. ण्य > ण
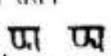
जाण्यो पण आण्यो नहीं → (जाना किन्तु लाया नहीं)
जाणो पण आणो नहीं → (जानते हो किन्तु लाते नहीं)

9. त > ट।
तूटेगो > टूटेगो
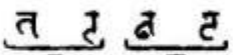

10. ध > घ।
धण जों यां काई मिलै। (स्त्रियों को देखने से क्या मिलता है)
घण जों यां काई मिलै। [अधिक (आतुरता) दिखाने से क्या मिलता है]

11. न > त।
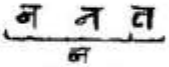
नातो तेरै नाम रो। (तेरे नाम का नाता है)
तातौ तेरै नाम रो। (तेरे नाम का प्रेमी हूँ)

12. प > म।
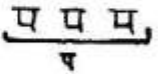
पड़ै पड़ ताल समंदा पारी। (समुद्रों के पार तक खबर होती है)
मडै मड़ गाल समंदा पारी (सरोवरों, समुद्रों के पार तर लाशें ही लाशें हैं)

13. फ > क।
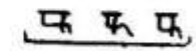
फर फरड़ाटो आयो
कर करड़ाटो आयो

14. य > म।
जय कुंण जांणै।
जम कुंण जांणै।

15. म > स।

मान निहोरा कित रह्या।

सान निहोरा कित रह्या।

16. ह > ड। 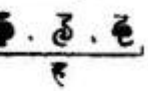

17. ड > द।

हडूकियो > डदूकियो

डेल्ह > देल्ह (सुप्रसिद्ध कवि का नाम)

(आ) भ्रामक वर्ण

1. त्र > त्र (त्र > त्र

त्रपत > त्रपत । त्रपत > त्रपत

2. हलन्त् 'र' के लिए दो अक्षरों के बीच "—" चिह्न भी लिखा मिलता है (अनेक प्रतियों में)। सत्रहवीं शताब्दी की प्रतियों में अपेक्षाकृत अधिक। उदाहरणार्थ :

धार्‍या > धा-र्‍या

मार्‍या > मा-र्‍या

इससे ये भ्रम हो सकते हैं :-

(अ) सम्भवत: धा और या को मिलाया गया है (धार्‍या > धा-र्‍या)।

(ब) सम्भवत: इन दोनों के बीच कोई अक्षर, मात्रादि छूट गया है।

(स) सम्भवत: इसके पश्चात् शब्द समूह या ओल (पंक्ति) छूट गई है। इसको कोई चिह्न-विशेष न समझकर 'र' का हलन्त रूप (-) समझना चाहिए।

यह (-) अन्तिम अक्षर के साथ जुड़े हुए रूप में मिलती है, पृथक् नहीं।

(इ) प्रमाद से लिखे गये वर्ण -

इस शीर्षक के अन्तर्गत उल्लिखित (अ) विवादास्पद (Controversial) और

(आ) भ्रामक (Confusing) दोनों वर्ग भी सम्मिलित हैं। अब यहाँ प्रमादी लेखन से क्या परिणाम होते हैं और क्या कठिनाइयाँ खड़ी होती हैं, उन्हें देखना है। पहले मात्राओं पर ध्यान जाता है :

(1) मात्रा :

1. ा > ै । का की
का > की । का > की
(ा > ी)

2. (क) उ > अः
(ख) ओ > अा आ
(क) ध्र > ध
मात्रा (ा > उ)
(ख) कामोदरी > कामादरी
↓
कामादरी कामादरी

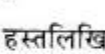

द्रष्टव्य है कि अनेक हस्तलिखित प्रतियों में दो मात्राएँ बंगाली लिपि की भाँति लगी मिलती हैं। यह प्रवृत्ति 19वीं शताब्दी तक की प्रतियों में पाई जाती हैं। दोनों मात्राएँ नं. (1) में द्रष्टव्य हैं। यह प्रवृत्ति बीकानेर के 'दरबार पुस्तकालय' में सुरक्षित ग्रन्थों में विशेष मिली हैं।

3. उ ा अ
ए > ऐ । ऐ > ए

4. ओ>औ।औ > ओ ^ >

प्रतीत होता है कि यह गुरुमुखी के प्रभाव का परिणाम है और यह प्रवृत्ति 18वीं शताब्दी और उससे आगे लिखे ग्रन्थों में अधिक मिलती है।

अब हम इन वर्णों में मिलने वाले वैशिष्ट्य को ले सकते हैं :

(2) वर्ण :

क > फ।

ष > प। द्रष्टव्य है कि राजस्थानी में 'ख' वर्ण 19वीं शताब्दी तक की प्रतियों में नहीं पाया जाता। बदले में 'ष' ही पाया जाता है। इसके अपवाद ये हैं : 1. संस्कृत शब्द में 'ख' भी मिलता है, 2. ब्राह्मण प्रतिलिपिकारों ने दोनों का प्रयोग किया है।

ग > म। स्याही की अधिकता, पन्ने का फटना, स्याही का फैलना तथा लिखे हुए पर लिखने के कारण कुछ का कुछ पढ़ना मिलता है। इससे अर्थ का अनर्थ बहुत हुआ है।

च > व। 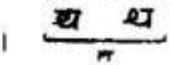

झ > भु या भु > झ। फ > पु। पु > फ।

बंगला लिपि के अनुसार लिखित 'उ' में यथा

झम > भुम। यहाँ भ में ँ (उ) की मात्रा मिलायी गयी है, इससे 'भ' 'झ' लगने लगा है।

ट > ठ। ठ > ट।

ड > उ। उ > ड।

द > ब। ब > द। 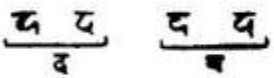

ख > त्त (द्वित्व युक्त त्)

लत < त्तत

व > न। 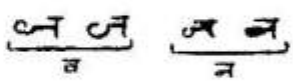

स > य्य

व > प्त। त्त (त्र)

इस वर्ग के अन्तर्गत अनेक उदाहरण मिलते हैं जो लिपिकारों के अनुसार बदलते रहते हैं। यादृशं पुस्तकं दृष्टवा तादृशं लिखितं मया' या 'मक्षिका स्थाने मक्षिका पात' के अनुयायी कम शिक्षित लिपिकारों द्वारा ऐसी भ्रांतियाँ पूर्ण भूलें हुआ करती हैं।

12. (ई) विशिष्ट वर्ण चिह्न

राजस्थान में देवनागरी वर्णमाला के य और व के नीचे बिन्दी लगाने की प्रथा है। पुराने ढंग की पाठशालाओं में वर्णमाला सिखाते समय 'व वा तले स बींदली' तथा 'ययिवोपेटक' और 'ययियो बींदक' पढ़ाया जाता था। अर्थात् व और य के नीचे बिन्दी लगाई जाती थी, यथा - य़, व़। इससे अर्थभेद स्पष्ट करने का प्रयास किया जाता था। इससे एक तो यह लाभ था कि एक से दिखने वाले वर्णों

से उसे अलग पढ़ा जा सकता था तथा दूसरे लिपिकार के राजस्थानी होने की पुष्टि भी होती थी।

ङ और ड़ - ये दो पृथक् ध्वनियाँ हैं। ड़ का प्रयोग कभी आदि में नहीं किया जा सकता। चन्द्रबिन्दु ' ँ ' का प्रयोग कहीं भी नहीं होता। ऐसा राजस्थानी पर गुजराती प्रभाव के कारण होता है। क्ष को ष्य लिखा जाता है; किन्तु ऐसा केवल संस्कृत शब्दों के अलावा राजस्थानी में नहीं है। बारहखड़ियों के अतिरिक्त ङ और ञ का लेखन में प्रयोग नहीं होता। ज्ञ सदैव ग्य करके लिखा जाता है।

विराम चिह्न : (1) कोमा (,) का प्रयोग नहीं होता, केवल पूर्णविराम का ही होता है। (2) पूर्णविराम या तो खड़ी पाई (।) की तरह लिखा जाता है या विसर्ग की तरह (:) या कुछ स्थान छोड़ दिया जाता है।

विराम-चिह्न रूप में विसर्ग अक्षर से ठीक जुड़ता हुआ न लगाकर कुछ जगह छोड़कर लगाया जाता है।

छूटे हुए अक्षर : छूटे हुए अक्षर, मात्राएँ आदि हाशिए में दाएँ-बाएँ लिखी जाती हैं। यदि अक्षर आधे से अधिक में छूट गया है तो दाएँ और आधे से पूर्व में छूटा है तो बाएँ ओर लिखा जाता है इसके लिए '⌊' अथवा 'L' चिह्न का प्रयोग किया जाता है। इसी प्रकार यदि आधी या पूरी पंक्ति छूट गई है तो वह प्राय: ऊपर के स्थान पर या नीचे के स्थान पर लिखी जाती है। मूल पाठ में दो स्थानों पर '⌊⌋' चिह्न लगाकर ऊपर या नीचे छूटी हुई पंक्ति लिखी जाती है।

कभी-कभी आधा शब्द लिखने के बाद आधा शब्द छूट गया हो तो लिपिकार हाशिए में एक चिह्न (S) बना देता है, इसको आ (1) या पूर्णविराम समझना चाहिए। यह सदा दाएँ हाशिए में ही होगा। जैसे - एक शब्द 'रामायण' को लें। इस शब्द का 'रामा' तक तो पूर्व पंक्ति में लिखा गया, क्योंकि बाद में हाशिया आ गया था। इसको यों लिखा जाएगा - रामा/। (हाशिया) यण। भूल से इस 'यण' को अकारण नहीं समझना चाहिए।

इस प्रकार पाण्डुलिपियों में उपर्युक्त अनेक प्रकार की भूलें पाई जाती हैं।

13. (ई) उदात्त-अनुदात्त-ध्वनि-वर्ण

उदात्त-अनुदात्त-ध्वनियों से संबंधित कोई चिह्न नहीं है, केवल प्रसंग, अर्थ एवं अनुभव द्वारा ही सहायता मिल सकती है। कहीं-कहीं यह भी संभव नहीं। जैसे - 'सांड' - सांड (बैल) सां'ड (ऊँटनी), धन - धन (संपत्ति) ध'न (पत्नी)।

यहाँ हमने डॉ. माहेश्वरी के अनुभव-ज्ञान द्वारा प्रस्तुत क्षेत्रीय लिपिमाला के आधार पर राजस्थानी पाण्डुलिपियों में पाई जाने वाली भूलों की ओर संकेत किया है। पाण्डुलिपिविज्ञान-वेत्ता को चाहिए कि वह अन्य क्षेत्रों में पाण्डुलिपियों को देखकर उनके आधार पर क्षेत्रीय लिपिमालाएँ तैयार करायें। इस प्रकार लिपि संबंधी समस्याओं का समाधान आसानी से हो सकेगा। ❑

अध्याय 5

पाठालोचन

1. मूलपाठ

किसी भी पाण्डुलिपि की लिपि की समस्या-निदान के बाद उसके 'पाठ' का महत्त्वपूर्ण स्थान है। मूल लेखक द्वारा लिखित पाण्डुलिपि 'मूलपाठ' कहलाती है। ऐसी पाण्डुलिपि अत्यधिक महत्वपूर्ण होती है, जिसकी सुरक्षा करना अत्यन्तावश्यक है। क्योंकि, 'मूलपाठ' अत्यधिक उपयोगी होता है। उसके उपयोग को निम्न बिन्दुओं से समझा जा सकता है :

(क) 'मूलपाठ' से लेखक की लिपि-लेखन-शैली का पता चलता है जिससे तत्कालीन स्थिति और अभ्यास का पता चलता है।

(ख) लेखक की वर्तनी-विषयक पद्धति का ज्ञान होता है।

(ग) 'पाठालोचन-विज्ञान' का ध्येय मूलपाठ की खोज करना होता है, जिससे ग्रंथ-संघटन सम्पादन में वह आदर्श का काम देता है।

(घ) मूल लेखक के शब्द-भण्डारण का ज्ञान भी मूलपाठ से हो जाता है।

(ङ) मूलपाठ से अन्य उपलब्ध पाठों को मिलाने से पाठान्तरों एवं पाठभेदों में वर्तनी, लिपि एवं शब्दार्थ के रूपान्तर में होने वाली प्रक्रिया का ज्ञान होता है।

(च) मूलपाठ की सामग्री अर्थात् कागज, स्याही, लिपिलेखन, पृष्ठांकन, चित्र, हाशिया, आकार, हड़ताल-उपयोग आदि से अनेक ऐतिहासिक तथ्यों का उद्घाटन होता है।

2. लिपिक का सर्जन

किसी भी ग्रंथागार में किसी मूलपाठ का होना काफी महत्वपूर्ण होता है, किन्तु ग्रंथागार में रखे सभी ग्रंथ मूलपाठ नहीं होते। उनमें से बहुत से मूलपाठ के वंश की आगे की कई पीढ़ियों से आगे के हो सकते हैं। प्रारंभ में मूलपाठ

से जितनी भी प्रतिलिपियाँ तैयार होती हैं वे सभी मूलपाठ के वंश की प्रथम स्थानीय संतानें मानी जा सकती हैं। मान लीजिए मूलपाठ से तीन लिपिकों ने कुछ प्रतिलिपियाँ निम्न प्रकार से तैयार कीं -

प्रथम ने 3 प्रतियाँ, दूसरे ने 2 प्रतियाँ, तीसरे ने चार प्रतियाँ आदि।

इन प्रतियों के तैयार करने में प्रत्येक लिपिक ने अपनी ही पद्धति से उन्हें तैयार किया है। यहाँ तक कि कभी-कभी एक ही लिपिक द्वारा तैयार दो प्रतियों में भी भिन्नता मिल जाती है। पूर्वकाल में जब छापाखाने नहीं थे तब ग्रंथों को लिपिक द्वारा लिखवा कर पढ़नेवालों को दिया जाता था। इसका परिणाम यह होता था कि लिपिक की समस्त अयोग्यताओं के कारण पाठ अशुद्ध हो जाता था। किसी का सुलेख अच्छा नहीं होता था, कोई ग्रंथ के विषय से अपरिचित रहता था, किसी का शब्दकोष सीमित होता था। फलतः पाण्डुलिपि में उन कमियों को देखा जा सकता है। अज्ञानता के कारण भी पाण्डुलिपि में अनेक विकार आ जाते थे, जिनमें प्रधान विकार 'शब्द' संबंधी रहता था। इसके मूलतः तीन कारण थे -

(1) काल्पनिक : प्रायः 'राम' को 'राय' या 'राय' को 'राम' पढ़ना असम्भव नहीं है। एक साथ लिखे 'र' और 'व' (रव) को ख पढ़ा जा सकता है। इस प्रकार किंचित् मात्र भ्रम के कारण लिपिक कुछ का कुछ लिख सकता है। भ्रम की यह परम्परा आगे चलकर विकराल रूप धारण कर लेती है। फलतः काव्य के अर्थ ही कुछ के कुछ हो जाते हैं। यथा -

मूल लेखक ने लिखा - राम
प्रथम लिपिक ने पढ़ा - राय
दूसरे लिपिक ने पढ़ा - राच
तीसरे लिपिक ने पढ़ा - सच आदि।

इस प्रकार एक ही शब्द भ्रमवश विकार को प्राप्त कर आगे वालों के लिए विकारों की शृंखला बना देते हैं। यह विकार का एक काल्पनिक इतिहास है। यथार्थ उदाहरण के रूप में देखिए -

'होइ लगा जेंवनार ससारा' - पद्मावत : मा. प्र. गुप्त।
'होइ लगा जेंवनार पसारा' - पद्मावत : रा.च. शुक्ल।

उपर्युक्त दोनों उदाहरणों में एक ने 'ससारा' पढ़ा है तो दूसरे ने 'पसारा' पढ़ा है।

(2) प्रमादवश

मूल लेखक ने जो लिखा है उसे पढ़कर ही लिपिक लिखता है, लेकिन अज्ञान और प्रमादवश पढ़ने एवं लिखने में कुछ का कुछ परिणाम हो जाता है। 'प्रमाद दृष्टिकोण' के कारण ही ऊपर 'ससारा' को 'पसारा' पढ़ा गया है। 'लोपक प्रमाद' के कारण लिपिक मूल पाण्डुलिपि के किसी शब्द या वाक्य के अंश को ही छोड़ देता है।

(3) छूट-भूल एवं आगम के कारण

यदि लिपिक स्थिर चित्त होकर नहीं लिख रहा है तो वह अपने मन में तो पूरा शब्द बोलता है, परन्तु लिखते समय उससे कोई न कोई वर्ण छूट जाता है। यह भूलवश ही होता है, जैसे - सरवर को सवर लिखना। लेखक 'र' लिखना ही भूल जाता है। बिन्दु, चन्द्रबिन्दु एवं लघु-गुरु मात्राओं की भूल तो होती ही रहती है। कभी-कभी किसी अक्षर का आगम तो कभी 'लोप' और 'विपर्यय' भी हो जाता है। कभी-कभी एक ही अक्षर या शब्द दो बार भी लिखे जाते हैं।

कभी-कभी लिपिक द्वारा भ्रमवश अपने को लेखक से अधिक योग्य समझकर या किसी शब्द का अर्थ ठीक नहीं समझ पाने के कारण कोई अन्यार्थक शब्द या वाक्य-समूह रख देता है। इस संबंध में डॉ. टेसीटरी कहते हैं - "In the peculiar conditions under which bardic works are handed down, subject to every sort of alterations by the copyists who generaly are bards themselves and often think themselves authorized to modify or ... improve any text they copy to suit their tastes or ignorance as the case may be."[1] उदाहरण के लिए 'छरहटा' शब्द की जगह 'चिरहटा' या 'चिरहटा' को 'छरहटा' लिखना। इसी तरह 'आखत ले' को 'आख तले' करने और बाद में 'आँख तले' करने में भी है। ऐसे लिपिकर्ता प्रमादवश मूल पाठ में गम्भीर विकार उत्पन्न कर देते हैं।

1. वचनिका, भूमिका, पृ. 9

पाण्डुलिपि वैज्ञानिक मुनि पुण्यविजयजी ने हस्तलिखित ग्रंथों में प्रयुक्त ऐसे अक्षरों की सूची दी है जिसमें परस्पर समानता के कारण लिपिकर्ता एक के स्थान पर दूसरा अक्षर लिख देता है।[1] जैसे –

मूलवर्ण	के स्थान पर	मूलवर्ण	के स्थान पर
क	क्	त्र	थ
ख	रव, स्व,	एय	णा, एम
ग	रा	श्रा	थ्य
घ	ध, व, थ, प्य	पा	प्य
च	वु, ठ, ध	सा	स्य
छ	ब	षा	ष्य
ज	ज्ञ	ड्ढ	ट्ट, द्द
ञ	ज	त्त	न्न
ट	ठ, द	च्च	थ
ड	र, म	इ	द्द्र
त	ब	ई	ईं
च	व	ए	प, च
न	त, व	ऐ	पे, ये
नु	तु	क्ष	क्र, कु, क्ष
प	ए, य	प्त	प्, पृ
फ	पु	सु	मु
त्र	स, म	ष्ठ	ष्व, ष्ट, ब्द
म	फ, स, रा, ग	त्म	त्स, ता, त्य
व	ब, त	क	क्क, क्रृ
ह	इ		
त्त	तू		
छ	द्ध, ड्ढ, द्र		
ग्र	ग्ग, ग्ज		

1. भारतीय जैन श्रमण संस्कृति अने लेखन कला, पृ. 78

मूलवर्ण	के स्थान पर	मूलवर्ण	के स्थान पर
द्र	उ		
वु	तू		
ध	घ, थ		
ज्ज	ब्त्र, द्य		
सू	स्त, स्व, म्		
त्थ	च्छ		
कृ	क्ष		
त्व	च, न		
प्रा	था		
टा	य		

लिपिकर्ता की भ्रान्तियों के कारण शब्द-रूपों के भ्रान्त लेखन के भी कुछ उदाहरण दिये जाते हैं[1] –

मूल शब्द	प्रमादवश लिखा शब्द
प्रभाव	प्रसव
स्तवन	सूचन
यच्च	यथा
प्रत्यक्षतोवगम्या	प्रत्यक्षबोधगम्या
नवाँ	तथा
नच	तव
तदा	तथा
पर्वतस्य	पवन्नस्य
परिवुड्ढि	परितुट्ठि
नचैव	तदैव
अरिदारिणा	अरिवारिणी या अविदारिणी
दोहलक्खेविया	दो हल कबे दिया
जीवसालिम्मी कृतं	जीवमात्मीकृत

1. भारतीय जैन स्मरण संस्कृति अने लेखन कला, पृ. 79

कभी-कभी लिपिकर्ता अक्षर ही नहीं 'शब्द' भी प्रमादवश छोड़ देता है। तब दूसरा लिपिक उसकी कमी को अनुभव करता है तो वह अपने अनुमान से ही कोई भी शब्द लिख देता है। इस प्रकार पाठ में विकारों का सिलसिला चलता रहता है।

3. पाण्डुलिपि : वंश-वृक्ष

पाण्डुलिपि के लिपिकर्ता की लेखन-कला - किस अक्षर को वह कैसे लिखता है - के आधार पर उसकी लेखन-शैली का पता लगता है। जैसे वह 'अ' या 'अ' लिखता है, 'ष' या 'ख' लिखता, शिरोरेखा लगाता है या नहीं, भ और म में, प और य में अन्तर करता है या नहीं। इस प्रकार प्रत्येक लिपिकर्ता की प्रति में अपनी-अपनी विशेषताएँ होने के कारण वे दूसरे लिपिकर्ता से अवश्य भिन्न होंगी। अत: वंशवृक्ष में प्रथम स्थानीय संतानें ही तीन लिपिकों के माध्यम से तीन वर्गों में विभाजित हो जायेंगी। इन प्रथम-स्थानीय प्रतियों से फिर अन्य लिपिकर्ता प्रतिलिपि तैयार करेंगे और एक के बाद दूसरी से प्रतिलिपियाँ तैयार होती चली जायेंगी। इसे निम्नलिखित वंश-वृक्ष[1] से समझा जा सकता है।

इस वंशवृक्ष में 'क' के द्वारा तीन प्रतियाँ तैयार की गई थीं। बाद में उसकी

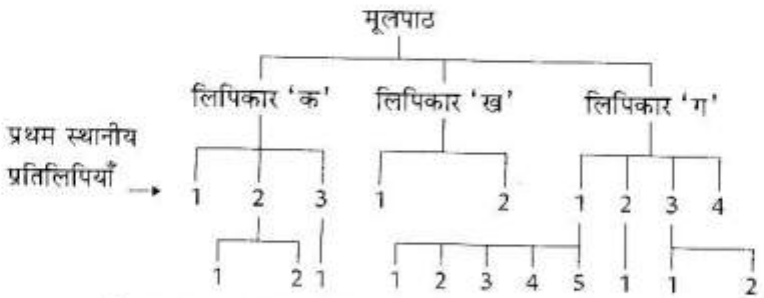

2 नम्बर की प्रति से 2 प्रतिलिपियाँ एवं 3 नम्बर की प्रति से 1 प्रतिलिपि तैयार हुई। 'ख' ने दो प्रतियाँ लिखी थीं, किन्तु इनसे कोई प्रतिलिपि तैयार नहीं की गई। इस प्रकार इस प्रति का वंश यहीं समाप्त हो गया। 'ग' ने चार प्रतियाँ तैयार की थीं; जिनमें आगे चलकर प्रथम से 5, द्वितीय से 1, तृतीय से 2 प्रतिलिपियाँ तैयार की गईं किन्तु चौथी का वंश नहीं चला। इस प्रकार यह वंशवृक्ष बढ़ता

1. पाण्डुलिपिविज्ञान; डॉ. सत्येन्द्र, पृ. 220

जायेगा। क्योंकि प्रत्येक पाण्डुलिपिकर्ता अपनी-अपनी लिपियों में कुछ नवीनता या वैशिष्ट्य जोड़ता ही है। यह प्रतिलिपि सामान्य सृजन की प्रक्रिया है।

4. मूलपाठेतर प्रतिलिपि और पाठालोचन

वस्तुतः पाठालोचन की आवश्यकता तब होती है जब हस्तलेखागार में मूलपाठ की चौथी पीढ़ी की दूसरी शाखा की 3 प्रतियों में से प्रथम प्रति की पाँचवीं प्रतिलिपि की दूसरी प्रति उपलब्ध होती है। इसे निम्नप्रकार समझा जा सकता है -

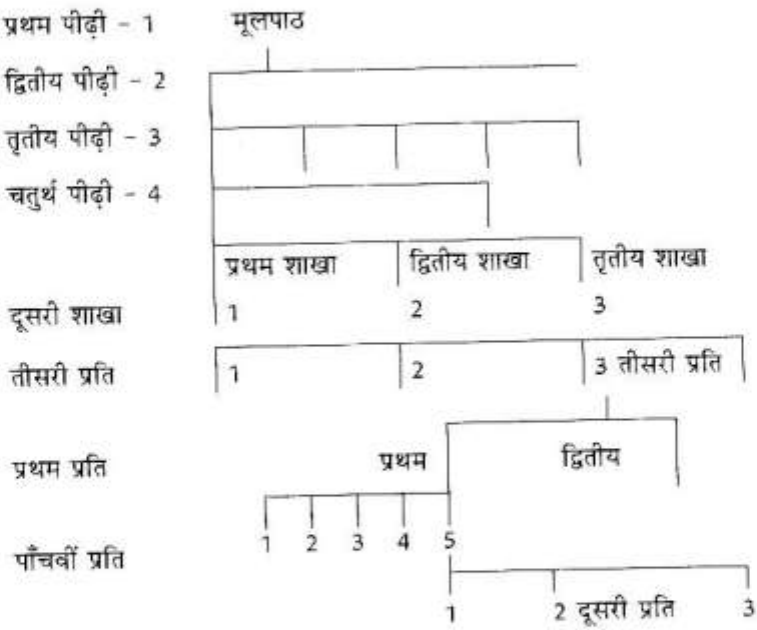

क्षेपक : जिस प्रकार पाण्डुलिपिकर्ता के प्रमाद के कारण पाण्डुलिपि में वर्तनी एवं शब्द-भेदों संबंधी विकार उत्पन्न हो जाते हैं, उसी प्रकार क्षेपक, प्रक्षिप्तांश अथवा छूट के कारण भी विकार आ जाता है। कहा जाता है कि अपने मूल-रूप में 'महाभारत' और 'पृथ्वीराजरासो लघु ही थे, किन्तु कालान्तर में क्षेपक जुड़ते-जुड़ते वे महाकाय-महाकाव्य बन गये। इसका पाठालोचन के विद्वानों को बड़ी सावधानी से वैज्ञानिक पद्धति से अनुसंधान करना चाहिए।

छूट : कभी-कभी प्रमादवश प्रतिलिपिकार कोई पंक्ति, शब्द या अक्षर छोड़ देता है। ऐसी छूटों की पाठालोचन के द्वारा प्रामाणिक मूलपाठ की प्रतिष्ठा कर पूर्ति करनी होती है।

अप्रामाणिक रचनाएँ : कभी-कभी शिष्यों या श्रद्धालुओं द्वारा लिखित पूरी की पूरी कृति ही अप्रामाणिक होती है; क्योंकि ग्रंथ का रचनाकार वह स्वयं नहीं होता है, जिसे बताया जाता है। पाठालोचन के द्वारा ही ऐसी रचनाओं की छँटनी की जाती है। इस प्रकार पाठालोचन अथवा पाठानुसंधान एक महत्वपूर्ण अनुसंधान है।

5. पाठालोचन : शब्द-अर्थ का महत्व

पाठालोचन केवल भाषाविज्ञान का ही विषय नहीं है, अपितु उसका साहित्यिक महत्त्व भी है। इसलिए इसका संबंध शब्द और अर्थ दोनों से हैं। इस दृष्टि से सम्पादन की दो सारणियों का उपयोग हो रहा है - (1) वैज्ञानिक सम्पादन, और (2) साहित्यिक सम्पादन। वैज्ञानिक एवं साहित्यिक प्रक्रिया में मूलत: अन्तर न होते हुए भी आज का वैज्ञानिक सम्पादन शब्द को अधिक महत्व देता है और साहित्यिक सम्पादक अर्थ को। इसमें संदेह नहीं कि शब्द और अर्थ की सत्ता परस्पर असंपृक्त नहीं है फिर भी अर्थ को मूलत: ग्रहण किये बिना प्राचीन हिन्दी काव्यों का सम्पादन सर्वथा निर्भ्रान्त नहीं। इन्हीं सब कारणों से शब्द की तुलना में अर्थ की महत्ता स्वीकार करनी पड़ती है। आज अधिकतर पाठ-सम्पादन में जो भ्रांतियाँ उत्पन्न होती हैं, वे अर्थ न समझने के कारण।[1] अत: आवश्यकता इस बात की है कि वैज्ञानिक प्रणाली से ठीक या यथार्थ शब्द पर पहुँचा जाए, क्योंकि शुद्ध शब्द ही ठीक अर्थ दे सकता है। इस प्रकार पाठालोचन की वैज्ञानिक प्रणाली में शब्दों का महत्व स्वयंसिद्ध है।

6. पाठालोचन की प्रणालियाँ

पाठालोचन की तीन प्रणालियाँ हैं - (1) स्वेच्छया-पाठ-निर्धारण प्रणाली, (2) तुलनात्मक प्रणाली, (3) वैज्ञानिक प्रणाली। प्रथम प्रकार की एक सामान्य प्रणाली होती है, जिसमें सम्पादक, पुस्तक का सम्पादन करते समय प्राप्त प्रति पर

1. सम्मेलनपत्रिका (चैत्र-भाद्रपद, अंक 1892) पृ. 177, डॉ. किशोरीलाल का लेख - प्राचीन हिन्दी काव्य : पाठ एवं अर्थ विवेचन।

ही निर्भर रहता है। इसमें वह इतना भर करता है कि जो सामान्य दोष दिखाई देते हैं, उन्हें वह दूर कर देता है। जैसे हमने 'भीमविलास' का सम्पादन किया।[1] दूसरे प्रकार की तुलनात्मक प्रणाली में सम्पादक के पास दो प्रतियाँ होती हैं। इनमें तुलना करने पर जो प्रति उसे अधिक अच्छी लगती है, उसी को मानकर सम्पादन कर देता है। ऐसे सम्पादित ग्रंथों में वह पाठान्तर देना भी उचित नहीं समझता। कहीं-कहीं जहाँ उसे दोनों पाठ अच्छे लग रहे हों तब वह फुटनोट में दूसरा पाठ भी दे सकता है।

इसी प्रणाली के अन्तर्गत पाठालोचक एक ही ग्रंथ की एकाधिक पाण्डुलिपियाँ प्राप्त होने पर भी इसी प्रणाली का निर्वहन करता है। वह स्वेच्छया जिस पाठ को ठीक समझता है उसे ही मूल मान कर सम्पादन कर देता है। उसकी रुचि-प्राधान्य के कारण ही वह तदनुकूल रचनाकार के वैशिष्ट्य को भी अपनी भूमिका में प्रकट करने का प्रयास करता है।

तीसरी वैज्ञानिक प्रणाली है। इसे वैज्ञानिक चरण भी कह सकते हैं। इस चरण की प्रणाली में कई हस्तलेखों की तुलना की जाती है। अब तुलनात्मक आधार पर प्राय: प्रत्येक प्रति में मिलने वाली त्रुटियों में साम्य वैषम्य देखा जाता है। इसके परिणाम के आधार पर इन समस्त हस्तलेखों का एक वंशवृक्ष तैयार किया जाता है और कृति का आदर्श पाठ या मूल पाठ निर्धारित किया जाता है।[2] इस प्रकार इस प्रणाली के बाद पाठालोचन को एक अलग विज्ञान मान कर उसे भाषाविज्ञान के समकक्ष विज्ञान ही माना जाने लगा है।

7. पाठालोचन-प्रक्रिया

पाठालोचन या पाठानुसंधान की प्रक्रिया में निम्नलिखित बिन्दुओं पर ध्यान देना चाहिए -

(क) पाण्डुलिपि या ग्रंथ-संग्रह : किसी पुस्तक का पाठालोचन करते समय, सर्वप्रथम उस पुस्तक-संबंधी प्रकाशित एवं अप्रकाशित (हस्तलिखित) सामग्री का संकलन कर लेना चाहिए। जहाँ-जहाँ भी उक्त ग्रंथ के प्राप्त होने

1. शंकर राव कृत भीमविलास : डॉ. महावीर प्रसाद शर्मा, 1983, लोकभाषा प्रकाशन, कोटपूतली (जयपुर)।
2. पाण्डुलिपिविज्ञान : डॉ. सत्येन्द्र, पृ. 225-26

की संभावना हो वहाँ स्वयं जाकर या पत्र-व्यवहार द्वारा सूचनाएँ एकत्र कर लेनी आवश्यक है। सूचना एकत्र करने के बाद उन ग्रंथों को उन-उन स्थानों से प्राप्त करने का प्रयास करना अपेक्षित है। कहीं से आपको मूल प्रति मिलेगी, तो कहीं से फोटो कापी या कहीं से किसी प्रतिलिपिकर्त्ता द्वारा प्रतिलिपि तैयार की हुई अथवा माइक्रो फिल्म लेनी पड़ सकती है। इस प्रकार येन-केन-प्रकारेण ग्रंथों का संग्रह करना चाहिए।

(ख) तुलना : इसके बाद प्राप्त ग्रंथों के पाठ की पारस्परिक तुलना करनी चाहिए। तुलना करने के लिए (1) पहले सभी ग्रंथों को कालक्रमानुसार लगा लेना चाहिए, (2) इसके बाद प्रत्येक ग्रंथ को एक संकेतनाम देना चाहिए। इससे ग्रंथ के पाठ-संकेत देने में सुविधा रहती है तथा समय और स्थान की बचत होती है। संकेतनाम किस प्रकार रखा जाये इसे संकेत-प्रणाली द्वारा समझना होगा।

संकेत-प्रणाली : ग्रंथ का नाम-संकेत देने की अनेक प्रणालियाँ हैं।

(अ) क्रमांक-प्रणाली : इस प्रणाली के अन्तर्गत सभी आधार-ग्रंथों को क्रमवार (कालक्रमानुसार) सूचीबद्ध करके उन्हें जो क्रमांक दिया जाये उन्हें ही ग्रंथ-संकेत मान लिया जाये। जैसे - (1) जयपुरवाली प्रति, (2) बीकानेर-वाली प्रति, (3) आगरावाली प्रति आदि। जब-जब हम प्रति सं. (2) का उल्लेख करेंगे उसका अभिप्राय बीकानेरवाली प्रति ही समझा जायेगा। क्रमांक-संकेत देते समय ग्रंथ का विवरण भी देना चाहिए। इसके एक उदाहरणस्वरूप 'पृथ्वीराज रासो' की एक प्रति को डॉ. सत्येन्द्रजी ने आधार मानकर विस्तृत परिचय दिया है। संक्षेप में प्रति के परिचय में निम्नलिखित बातों पर ध्यान दिया जाना चाहिए -

(क) पाण्डुलिपि की प्रति के प्राप्ति-स्थान एवं जिसके पास वह प्रति है उस व्यक्ति का परिचय

(ख) प्राप्त प्रति की वस्तु-स्थिति (1) क्या वह पूर्ण है, अपूर्ण है, पृष्ठ कटे हैं या दीमक आदि द्वारा नष्ट हैं? (2) प्रति पृष्ठ कितनी पंक्तियाँ हैं और प्रति पंक्ति कितने शब्द हैं? (3) स्याही का रंग? (4) कागज कैसा है? (5) सचित्र या सादा है? चित्र हैं तो कितने हैं आदि।

(ग) छन्द संख्या ?

(घ) क्या लेख स्पष्ट है?

(ङ) ग्रंथ का आकार - फुट एवं इंच (से.मी.) में ?

(च) प्राप्ति-उपाय ?

(छ) पुष्पिका ?

(ज) ग्रंथ-रचना का इतिहास ?

(झ) पाठ-परम्परा तथा पाठविषयक उल्लेखनीय बातें। वर्तनी-भेद के उदाहरण सहित।

(ञ) वर्तमान शोध की दृष्टि से प्रस्तुत ग्रन्थ का महत्व? आदि

(आ) प्रतिलिपिकार-प्रणाली : कभी प्राप्त ग्रंथ के प्रतिलिपिकर्ता के नाम के प्रथम अक्षर को लेकर भी संकेत बनाये जा सकते हैं। जैसे - 'बीसलदेव रास' की एक प्रति के लिपिकर्ता पण्डित सीहा' के नाम के प्रथम अक्षर 'प' को लेकर संकेत बनाया गया है।

(इ) स्थान-संकेत-प्रणाली : ग्रंथ की पुष्पिका में यदि रचना के स्थान का नाम हो तो उस स्थान के नाम के प्रथम अक्षर के आधार पर भी संकेत बनाया जा सकता है। जैसे - 'पृथ्वीराजरासो' की मोहनपुरे वाली प्रति का संकेत 'मो.' दिया जा सकता है।

(ई) पाठ-साम्य-समूह प्रणाली : ग्रंथ-संग्रह करने के बाद समस्त प्राप्त पाण्डुलिपियों का वर्गीकरण पाठ-साम्य के आधार पर किया जा सकता है। इस प्रकार मानलें कि तीन ग्रंथ-समूह बने। उनमें प्रथम में 4, द्वितीय में 3 तथा तृतीय में 5 ग्रंथ हैं। उनके नाम प्रथम समूह, द्वितीय समूह, तृतीय समूह दिये जा सकते हैं। अब यदि प्रथम समूह की तीसरी प्रति का संदर्भ देना है तो संकेत बनेगा प्र. 3। इसी प्रकार द्वि. 2, तृ. 4 आदि।

(उ) पत्र-संख्या प्रणाली : यदि खुले पत्रों में कोई ग्रंथ मिलता है तो पत्रों की संख्या के आधार पर संकेत बना सकते हैं। जैसे - किसी प्रति में 7 पृष्ठ हैं तो उसका संकेत 'सा.' बनाया जा सकता है।

(ऊ) पुनरुद्धार प्रणाली : जब एक ही ग्रंथ की दो अधूरी प्रतियाँ उपलब्ध हों तो दोनों को मिलाकर एक प्रति तैयार कर ली जाती है। इस प्रकार पुनरुद्धार

प्राप्त प्रति का संकेत 'पु.' रखा जा सकता है। डॉ. माताप्रसाद गुप्त ने इस पर अधिक विचार किया है।[2]

इन प्रणालियों के अतिरिक्त कभी-कभी मूल पुष्पिका के नष्ट हो जाने पर ग्रंथ-स्वामी किसी अन्य ग्रंथ की पुष्पिका उसमें जोड़ देता है, तो उस प्रति का संकेत उस ग्रंथ स्वामी के नाम पर बनाया जा सकता है।

8. मूलपाठ-प्रतियाँ

प्राप्त ग्रंथों के संकेत चिह्न निर्धारित करने के बाद उनके एक-एक छंद को अलग-अलग कागज पर लिख लेना चाहिए। प्रत्येक छंद की प्रत्येक पंक्ति के क्रमांक भी दे देने चाहिए साथ ही छंद का क्रमांक भी दें। जैसे[3] -

101

पंडियउ पहुतउ सातमई मास (1)
देव कह थान करी अरदास (2)
तपीय सन्यासीय तप करह (3)

9. मूलपाठ : तुलना

मूलपाठ की प्रतियाँ तैयार होने पर प्रत्येक छन्द की सभी प्रतियों के रूपों की तुलना करनी चाहिए। यह देखना चाहिए कि प्रत्येक छंद समान चरणों के हैं या असमान चरणों के, प्रत्येक चरण में समान शब्द हैं या भिन्न-भिन्न, प्रत्येक चरण में वर्तनी-संबंधी समानता है या असमानता आदि। इस तरह चरण प्रति चरण, शब्द प्रति शब्द तुलना करने के उपरान्त प्रत्येक शब्द के पाठों के अन्तर की सूची बनानी चाहिए। इसी प्रकार प्रत्येक आगम और लोप की सूची बनाली जानी चाहिए। पिंगल शास्त्र की दृष्टि से भी प्रत्येक चरण की संगति देखनी चाहिए।

10. तुलना के आधार

उपर्युक्त तुलना के आधारों पर मूलपाठ की तीन 'संबंधों' की दृष्टि से तुलना की जानी चाहिए - (1) प्रतिलिपि-संबंध (2) प्रक्षेप-संबंध (3) पाठान्तर-संबंध। इन तीन प्रकार के संबंधों की दृष्टि से 'वंशवृक्ष' तैयार करना चाहिए। इस

1. पाण्डुलिपिविज्ञान : डॉ. सत्येन्द्र, पृ. 227-232
2. बीसलदेव रास : सम्पा., डॉ. एम.पी. गुप्ता, पृ. 5
3. पाण्डुलिपिविज्ञान : डॉ. सत्येन्द्र, पृ. 233

प्रकार सर्वाधिक प्रामाणिक पाठ वाली प्रति निर्धारित कर लेने पर उसके पाठ को आधार मान सकते हैं, किन्तु प्रामाणिक पाठ नहीं। क्योंकि प्रामाणिक पाठ के लिए विविध पाठान्तरों की तुलना अपेक्षित है। तुलना द्वारा 'शब्द' और 'चरण' के रूप को निर्धारित करना होगा। इस प्रकार पूर्णत: प्रामाणिक पाठ बनाने के लिए समस्त बाह्य एवं अंतरंग सम्भावनाओं के साक्ष्य से ही पाठ निर्णय करना चाहिए।[1]

11. बाह्य एवं अन्तरंग सम्भावनाएँ

मूलपाठ प्रामाणिक है या नहीं, इसकी जानकारी बाह्य और अन्तरंग संभावनाओं से की जाती है। मूलपाठ के संदिग्ध स्थलों के शब्दों या चरणों की प्रामाणिकता के लिए जैसे अंतरंग साक्ष्य मिलता है वैसे ही शब्द या चरणों की ग्रंथ के अन्दर आवृत्ति के द्वारा अन्यत्र कहाँ और किस-किस स्थान और रूप में प्रयोग मिलता? इस प्रयोग की आवृत्ति सांख्यिकी प्रामाणिकता को पुष्ट करती है। इसी प्रकार 'अर्थ' की समीचीनता की उद्‌भावना की प्रामाणिकता को पुष्ट करती है। इस संबंध में डॉ. सत्येन्द्र ने 'पाण्डुलिपिविज्ञान' में विस्तार से चर्चा की है।

पाठालोचन में भ्रम के कारण या संशोधन-शास्त्र के नियमों की पालना में असावधानी के कारण इच्छित पाठ और अर्थ नहीं मिल पाता है। इसलिए पाठ की प्रामाणिकता की दृष्टि से शब्दों को तत्कालीन रूप और अर्थों से भी देखना आवश्यक है। उदाहरण के लिए जायसी के 'पदमावत' के किसी शब्द के अर्थ की पुष्टि 'आइने अकबरी' में आये शब्दों से की जा सकती है। क्योंकि 'आइने अकबरी' में अनेक शब्द अपने तत्कालीन रूप में प्राप्त होते हैं, जो 'पदमावत' में प्रयुक्त हुए हैं। इसी प्रकार अन्य समकालीन कवियों की शब्दावली अथवा तत्कालीन नामावलियों से 'शब्दों' की पुष्टि की जा सकती है।

पाठ-सिद्धान्त निश्चित हो जाने के बाद, एक पृष्ठ पर एक छन्द लिखना चाहिए और उसके नीचे जितने भी भिन्न पाठ मिलते हों वे सभी दे दिये जाने चाहिए। यह भी देखना चाहिए कि पाठ-भेद किस-किस प्रति के क्या-क्या हैं, इसका भी संकेत देना चाहिए।

डॉ. सत्येन्द्र कहते हैं कि "प्रामाणिक पाठ निर्धारित करने में बहुत सी सामग्री 'प्रक्षेप' के रूप में अलग निकल जायेगी। उस सामग्री को ग्रंथ में

1. बीसलदेव रास : डॉ. एम.पी. गुप्ता, भूमिका, पृ. 47

'परिशिष्ट' रूप में, उसके पाठ को भी यथासंभव प्रमाणिक बनाकर दे देना चाहिए। इस प्रकार इस समस्त सामग्री को सजा देने में सिद्धान्त यह है कि 'पाठालोचक' की वैज्ञानिक कसौटी में यदि कोई त्रुटि रह गयी हो तो विद्वान पाठक अपनी कसौटी से समस्त सामग्री की स्वयं जाँच कर सके।'[1]

12. 'अर्थ-न्यास' का पाठालोचन में महत्त्व

यद्यपि किसी भी रचना का पाठ उसका अर्थ जानने के लिए ही किया जाता है; किन्तु पाठालोचन प्रक्रिया में 'अर्थ' का विशेष महत्व नहीं होता। क्योंकि विकृत पाठ से अपेक्षित अर्थ नहीं प्राप्त किया जा सकता। ऐसे अर्थ को प्रामाणिक भी नहीं कहा जा सकता। पाठालोचन का महत्व प्रामाणिक अर्थ को प्राप्त करने में है। शब्द के अर्थ का ज्ञान परिमाण-सापेक्ष्य है। यदि किसी पाठालोचक का ज्ञान बहुत सीमित है तो कभी-कभी वह क्षेत्र-विशेष के बहुत प्रचलित शब्द का अर्थ भी नहीं जान पाता है। फलतः अपने सीमित ज्ञान के कारण अर्थ को दृष्टि में रखते हुए त्रुटिपूर्ण संशोधन कर देगा। यह भी सच है कि पाठालोचक भी कृतिकालीन समस्त शब्दों के अर्थ से परिचित नहीं रहता है। अतः पाठ-विज्ञान से निर्धारित रूप को ही उसे रखना चाहिए। क्योंकि ऐसा भी कोई शब्द हो सकता है जिसका अर्थ भविष्य में ज्ञानवर्धन के साथ प्राप्त हो। जैसे - 'पदमावत' के 'सास दुआलि' पाठ को डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल ने बाह्य संभावना के द्वारा प्रामाणिक सिद्ध किया है। सांस दुआलि या डोरी है।

यदि किसी ग्रंथ की एक ही प्रति उपलब्ध हो और वह भी मूल नहीं हो, तो भी उसका सम्पादन या पाठालोचन हो सकता है। ऐसे ग्रंथ के सम्पादन में यह जानना आवश्यक है कि आन्तरिक-बाह्य साक्ष्य से ग्रंथ का रचनाकाल क्या था, कहाँ लिखा गया था, एक ही स्थान पर लिखा गया या जगह-जगह आदि। जिस स्थान पर रह कर ग्रंथ लिखा गया वहाँ की भाषा क्या थी? तत्कालीन अन्य रचनाकार कौन थे? आदि बातों का पता लगाना - बाह्य-साक्ष्य - पाठालोचन के लिए महत्त्वपूर्ण हैं। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण है अन्तःसाक्ष्य का ज्ञान, जिसका उपयोग इतिहास, पुरातत्वान्वेषी शिलालेखों तथा ताम्रपत्रों के पाठ-उद्घाटन के समय किया करते हैं। इसमें 'अर्थ-न्यास' का भी अपना महत्व है,

1. पाण्डुलिपिविज्ञान, पृ. 239

क्योंकि उसी का अनुमान सम्पूर्ण ग्रंथ के अध्ययन के उपरान्त लगाया जा सकता है। सम्पूर्ण ग्रंथ का पूर्ण अध्ययन करने से शब्दावली एवं वाक्यपद्धति का भी पाठालोचक को इतना ज्ञान हो जाता है कि वह त्रुटित या संदिग्ध स्थलों की पूर्ति प्राय: उपयुक्त शब्द या वाक्य से कर सकता है। इस प्रकार के अनुमानित शब्द को कोष्ठक ( ) में बन्द कर देना चाहिए। ताकि भविष्य में पाठक को इन कोष्ठकों से यह पता चल सके कि यह शब्द या वाक्य सम्पादक के सुझाव हैं।

इस प्रकार तैयार पाठ में सांख्यिकी (Statistics) का भी उपयोग हो सकता है। एक ही शब्द के कई रूप मिलने पर, कौनसा प्रामाणिक हो सकता है, का ज्ञान सांख्यिकी से आसानी से हो जाता है। सांख्यिकी से ऐसे शब्दों के विविध रूपों की आवृत्तियाँ देखी जा सकती हैं। सम्पादित किये जाने वाले ग्रंथ की भाषा का व्याकरण भी तैयार करना चाहिए। यदि रचनाकार की कोई अन्य रचना भी मिलती हो तो दोनों की भाषा की तुलना से ग्रंथ को और भी अधिक प्रामाणिक बना सकते हैं। ऐसे ग्रंथों की शब्दानुक्रमणिका देना भी उपयुक्त रहता है।

आजकल पाठानुसंधान (Textual Criticism), भाषाविज्ञान (Linguistics) का महत्वपूर्ण अंग माना जाता है। अत: पाठानुसंधान के सिद्धान्त भी वैज्ञानिक हो गये हैं। पाठ-सम्पादन की सामान्य पद्धतियों की विश्वसनीयता आजकल समाप्त हो गई है।

13. मूलपाठ-निर्माण

मूलपाठ का प्रामाणिक पुनर्निर्माण भी पाठालोचन का ही एक पक्ष है। यह बहुत गम्भीर विषय है। उदाहरण के लिए 'पंचतंत्र' का पाठ पुनर्निर्माण लें। फ्रेंकलिन ऐजरटन ने पंचतंत्र के पाठ का पुनर्निर्माण किया था। उन्होंने अपने The Panchatantra Reconstruction, vol. II पृ. 48 में विविध क्षेत्रों से प्राप्त 'पंचतंत्र' के विविध रूपों को लेकर उनमें पाये जाने वाले अन्तरों एवं भेदों को दृष्टि में रखकर उसके 'मूलरूप' का निर्माण करने का प्रयत्न किया है। पंचतंत्र के विविध रूपान्तरों में कहानियों में आगम, लोप और विपर्यय मिलते हैं। प्रश्न उठता है कि पंचतंत्र का मूलरूप क्या रहा होगा और उसमें कौन-कौन सी कहानियाँ किस क्रम से रही होंगी। अत: पंचतंत्र के मूलरूप के निर्माण करने की समस्या भी पाठालोचन का ही विषय है। अधिक विस्तार से जानने के लिए डॉ. सत्येन्द्र कृत 'पाण्डुलिपिविज्ञान' को देखिए। ❑

अध्याय 6

काल-निर्णय

1. पाण्डुलिपि की लिपि के उद्घाटन के बाद काल-निर्णय की समस्या आती है। वस्तुत: जब कोई 'पाण्डुलिपि' प्राप्त होती है तो उसे काल की दृष्टि से दो वर्गों में बाँटा जाता है। प्रथम वर्ग में वह पाण्डुलिपि आती है जिसमें 'काल-संकेत' दिया होता है और दूसरे वर्ग में वह आती है जिसमें 'काल-संकेत' का कोई सूत्र नहीं होता। कभी-कभी तो 'काल-संकेत' वाली पाण्डुलिपियाँ 'काल-निर्णय' के लिए समस्या बन जाती हैं, जैसे - 'पृथ्वीराजरासो'। इस कृति में काल-संकेत होने के बावजूद अनेक ऐतिहासिक विवाद उठ खड़े हुए हैं।

2. काल-संकेत के प्रकार

काल-निर्धारण या निर्णय के लिए सामान्यत: तीन पद्धतियाँ काम में ली जाती हैं - (1) राज्यारोहण के काल के आधार पर, (2) नियमित संवत् के उल्लेख से, (3) समकालीन संदर्भों के आधार पर। प्रथम पद्धति का निर्वाह हमें अशोक के शिलालेखों में मिलता है। जैसे -

'द्वादसवसामि सितेन मया इदं आज्ञापितं'

अर्थात् अशोक कहते हैं कि मैंने यह लेख अपने राज्याभिषेक के बारहवें वर्ष में प्रकाशित करवाया। इसी प्रकार अन्य शिलालेखों में भी राज्याभिषेक के आठवें/दसवें वर्ष में लिखवाया आदि मिलता है।[1] इस प्रकार या पद्धति का 'राज्यवर्ष' का नाम दे सकते हैं। इसमें अभिलेख लिखाने वाला राजा काल-

1. सम्राट अशोक के अभिलेखों से पूर्व का एक अभिलेख अजमेर के बास बड़ली ग्राम से प्राप्त हुआ है। यह लेख आजकल अजमेर के अजायबघर में रखा हुआ है। डॉ. गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने इसे अतिविशिष्ट लेख माना है। इसमें दो पंक्तियाँ हैं; जिनमें क्रमश: 'वीराय भगवतं' तथा 'चतुरासीति बस' लिखा है। यह वीर या महावीर के निर्वाण के चौरासीवें वर्ष में लिखा गया। इससे जैन मतावलम्बी 'वीर-निर्वाण' दिवस से काल गणना करते हैं।

गणना के लिए अपने राज्याभिषेक के वर्ष का उल्लेख कर देता है। शुंगों के शिलालेखों में भी यही पद्धति अपनाई गई है।

इसके बाद आंध्रों के शिलालेखों में गौतमीपुत्र सातकर्णी के एक लेख में काल-संकेत का कुछ विस्तार पाते हैं। जैसे - 'सवछरे, 10+8 कस परवे 2 दिवसे'। इसमें राज्याभिषेक से वर्ष-गणना करते हुए ऋतु, पक्ष, दिन तथा तिथि का भी उल्लेख हुआ है। अर्थात् गौतमी पुत्र सातकर्णी के राजत्वकाल के 18वें वर्ष में वर्षा ऋतु के दूसरे पाख का पहला दिन।

महाराष्ट्र के क्षहरात एवं उज्जयिनी के महाक्षत्रपों के शिलालेखों में काल-संकेत विषय जानकारी और विस्तार मिलता है। इनके शिलालेखों में ऋतु के स्थान पर महीने का उल्लेख मिलता है — 'बसे 40 + 2 वैशाख मासे'। एक-दूसरे शिलालेख में पहले मास से बहुल (कृष्ण) या शुद्ध (शुक्ल) पक्ष के साथ तिथि तथा वार शब्द का भी प्रयोग किया गया है। जैसे - ''वर्ष द्विपंचाशे 50+2 फगुण बहुलस द्वितीय वारे''। इस उद्धरण में 'वार' शब्द का दिवसादि के लिए पहले-पहल प्रयोग हुआ है। इनके एक शिलालेख में तो 'रोहिणी नक्षत्रे' के द्वारा नक्षत्र का मुहूर्त तक भी दिया है। इस प्रकार 'नियमित संवत् वर्ष' के साथ राज्यवर्ष का उल्लेख भी किया गया है। जैसे - श्रीधरवर्मणा ····· स्वराज्याभि वृद्धि करे वैजयिके संवत्सरे त्रयोदशमे। श्रावण बहुलस्य दशमी दिवसं पूर्वक मेत ····· 20+1 अर्थात् श्रीधरवर्मा के विजयी एवं समृद्धिशाली तेरहवें राज्य वर्ष में और 201वें (संवत्) में श्रावण मास के कृष्णपक्ष की दशमी के दिन''''। इसमें राज्यवर्ष के अलावा 201 वर्ष दिया गया है वह शक संवत् ही है। इस प्रकार 'शक' या 'शाक' शब्द का प्रयोग नहीं करके केवल 'वर्ष या संवत्सरे' से काम चला लिया गया है।[1]

वस्तुतः शक सं. 500 से 1268 तक के शिलालेखों में वर्ष के साथ निम्नलिखित शब्दों का प्रयोग हुआ है —

(1) शकनृपति राज्याभिषेक संवत्सर, (2) शकनृपति संवत्सर, (3) शकनृप संवत्सर, (4) शकनृपकाल, (5) शक संवत, (6) शक, (7) शाक[2]। इससे स्पष्ट है कि 500वें वर्ष से शक या शाके शब्द का प्रयोग नियमित रूप से होने

1. पाण्डुलिपिविज्ञान : डॉ. सत्येन्द्र, पृ. 247
2. Rajbali Pandey : Indian Palaeography, P. 191.

लगा था। प्रारंभ में इसे शक नृपति के राज्याभिषेक का (राज्य वर्ष) संवत् माना गया। इसके बाद इसी शक संवत् के साथ शालिवाहन शब्द का प्रयोग होने लगा और इसे 'शाके शालिवाहन' कहा जाने लगा। इस प्रकार दक्षिण तथा उत्तर में नियमित संवत् के रूप में शक-संवत् लोकप्रिय हो गया। यहीं से 'नियमित संवत्' देने की दूसरी पद्धति द्वारा काल-संकेत मिलता है।

दूसरी पद्धति द्वारा प्राप्त नियमित संवत् के काल-संकेत प्राप्त होने के बावजूद समस्या यह उठती है कि उसे उस कालक्रम में और वर्तमान ऐतिहासिक काल-संकेत की परम्परा में किस प्रकार यथास्थान बिठाया जाये। उदाहरण के लिए अशोक से पूर्व के बड़ली ग्राम (अजमेर) से प्राप्त जैन शिलालेख में 'वीराय भगवत' एवं 'चतुराशिबसे' मिलता है। जिसका अभिप्राय यह है कि भगवान महावीर के निर्वाण के 84वें वर्ष में। यह एक प्रसिद्ध घटना है और जैन-धर्मानुयायी इसे ही 'महावीर संवत्' या 'वीर संवत्' मानते हैं। सम्पूर्ण जैन-साहित्य में इसी निर्वाण-संवत् का उल्लेख मिलता है। श्वेताम्बर जैन आचार्य मेरूतुङ्ग सूरि ने 'विचार श्रेणी' में कहा है कि 'महावीर संवत्' और विक्रम संवत् में 470 वर्षों का अन्तर है। इस प्रकार महावीर संवत् का प्रारम्भ 527 ई.पू. में हुआ, क्योंकि विक्रम संवत् का प्रारंभ 57 ई.पू. में होता है। 470 वर्ष का अन्तर होने से 57+470=527 ई.पू. महावीर का निर्वाण संवत् हुआ - इस तरीके से तीन संवतों का आपसी समन्वय प्राप्त हो जाता है-विक्रम संवत् का 'वीर निर्वाण संवत्' से और दोनों का परस्पर 'ई. सन्' से। अब यदि 'वीर निर्वाण' के वर्ष का ज्ञान संदेहास्पद हो तो इस प्रकार का 'काल-संकेत' किसी निर्णय पर नहीं पहुँच सकेगा।[1] किन्तु सर्वजन मान्य होने से 'शक-संवत्' नियमित हो गया।

1. डॉ. चन्द्रकान्त बाली का कहना है कि "महावीर स्वामी के कालबोधक तीन 'सूत्र' उत्तरोत्तर संवत्सर-परम्परा में इस प्रकार आबद्ध हैं कि उनमें कहीं भी शिथिलता दृष्टिगत नहीं होती। यथा - (क) वर्द्धमान संवत् - विक्रम संवत् + शक संवत्; (ख) वर्द्धमान संवत् + शक संवत् + विक्रम संवत्; (ग) वर्द्धमान संवत् + शक संवत् + चालुक्य संवत्। इस शृंखला में 'शक संवत्' का अस्तित्व चमत्कारपूर्ण है। सन् 78 ईसवी से चलने वाले 'शक संवत्' को विक्रम-पूर्ववर्ती अथवा चालुक्य-पूर्ववर्ती बताना या सिद्ध करना नितरां असंभव है। विक्रम-पूर्व तथा चालुक्य-पूर्व के 'शक-संवत्' की सत्ता 622 ईसवी-पूर्व मानने से ही 'वर्द्धमान-संवत्' का अनुसंधान सफल एवं सप्रमाण संभव है।"
- वर्द्धमान संवत्, लेख-परिषद् पत्रिका, पटना, वर्ष 20, अंक 4, जन. 1981

समकालीन संदर्भों के आधार पर

काल-निर्णय के सम्बन्ध में उपर्युक्त 2 पद्धतियों के अतिरिक्त एक तीसरी पद्धति समकालीन संदर्भों के आधार काल-संकेत प्राप्त करने की है। जब ऐसे लेख प्राप्त हों जिनमें न राज्यारोहण के वर्ष की गणना दी गई है और न ही नियमित संवत् का उल्लेख है, तब उन लेखों में संदर्भित समकालीन शासकों या व्यक्तियों के आधार पर काल-निर्णय किया जा सकता है। उदाहरण के लिए अशोक के 13वें शिलालेख में समकालीन अनेक विदेशी राजाओं के नाम आये हैं। अत: उनकी ज्ञात-तिथियों के आधार पर अशोक का काल-निर्णय हो सकता है, जैसे - शिलालेख में यूनानी राजा अंतियोकस द्वितीय - जो ई.पू. 261-41 तक पश्चिमी एशिया के शासक थे - का उल्लेख हुआ है। इसी प्रकार उत्तरी अफ्रीका के शासक टॉलेमी (ई.पू. 282-40) का भी उल्लेख है। इन समकालीन राजाओं की तिथियों के आधार पर अशोक के राज्यारोहण का वर्ष ई.पू. 270 निकाला गया है। किन्तु; इस प्रकार तिथि निर्धारण में गलत पाठ पढ़े जाने से भयंकर भूल भी हो सकती है, जैसे 'मौर्य संवत्' की कल्पना गलत पाठ पढ़ने से ही की गई। अन्यथा मौर्य संवत् जैसी कोई बात नहीं है।

अंतरंग साक्ष्य

अत: कहा जा सकता है कि 'काल-संकेत', समकालिकता एवं ज्ञात संवत् की पद्धति से संतोषजनक रूप में नियमित संवत् में काल-निर्णय किया जा सकता है। काल-निर्णय की एक और पद्धति भी हो सकती है **अन्तरंग साक्ष्य।** जब किसी रचना में कोई काल-संकेत नहीं दिया गया हो तब यह अन्तरंग साक्ष्य की पद्धति काम में ली जा सकती है। इस पद्धति में रचना के वर्ण्य-विषय में मिलनेवाले उन संकेतों का या उल्लेखों का सहारा लेना होता है, जिनमें काल की किसी भी प्रकार से संकेत करने की क्षमता हो। उदाहरण के लिए पाणिनि की अष्टाध्यायी को ले सकते हैं। इस रचना में कहीं भी काल-संकेत नहीं प्राप्त होता। अत: अष्टाध्यायी में प्राप्त-सामग्री के आधार पर समय का अनुमान विद्वानों ने किया है। यही कारण है कि इन विद्वानों के अनुमान भी परस्पर अत्यधिक भिन्न हैं। एक विद्वान उन्हें 400 ई.पू. मानते हैं। गोल्डस्टुकर के अनुसार पाणिनि बुद्ध से परिचित नहीं थे। अत: उनका समय यास्क के बाद और बुद्ध से पूर्व मानते हैं। डॉ. आर. जी. भण्डारकर के अनुसार पाणिनि दक्षिणी भारत

से अपरिचित थे। अत: वे उन्हें 7-8वीं शती ई.पू. में मानते हैं। पाठकजी उन्हें भगवान महावीर से कुछ पहले 7वीं शती ई.पू. के अन्तिम चरण में मानते हैं तो डॉ. डी. आर. भण्डारकर उन्हें छठी शती ई.पूर्व के मध्य मानते हैं। चार पेंटियर उन्हें 500 ई.पू. से अधिक मानते हैं तो ह्वोथलिंक 350 ई.पू. ही मानते हैं। वेबर महोदय ने उनका समय सिकन्दर के आक्रमण के बाद का माना है।

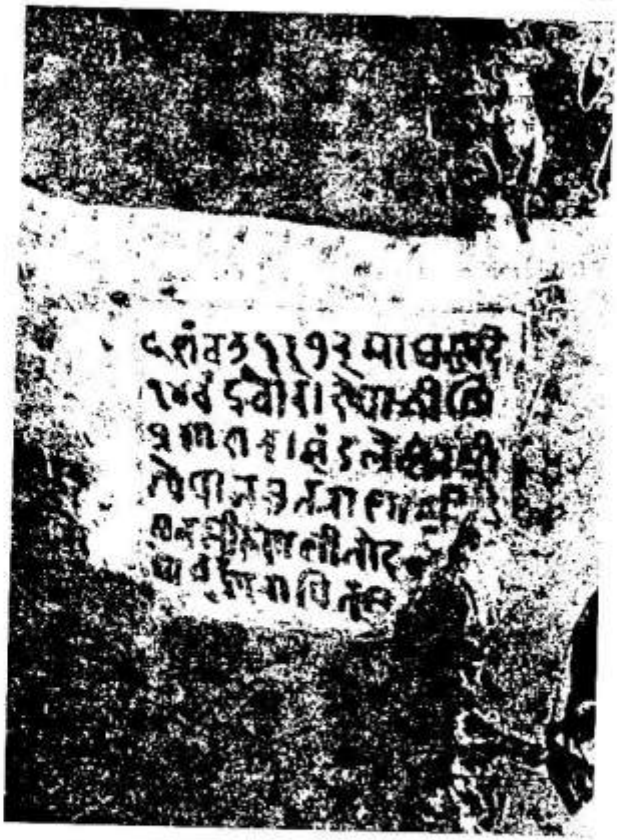

'ददरेवा' ग्राम में प्राप्त विद्यमान 'जैतसी' का शिलालेख

(जान कवि ने 'क्यामखा रासो' [सम्वत् 1373] में क्यामखानी चौहानों की वंशावली प्रस्तुत की है, उसमें गोगाजी व जैतसी का भी उल्लेख है। अत: इसके आधार पर जैतसी गोगाजी के वंशज हैं।)

— माघ सुदि १४ चंद्रवार (सम्वत् १३७३)

1. पाण्डुलिपिविज्ञान : डॉ. सत्येन्द्र, पृ. 254 से साभार

उपर्युक्त विवरण से एक बात स्पष्ट है कि इन विद्वानों ने अष्टाध्यायी की अंतरंग सामग्री के आधार पर ही अपने-अपने अनुमान प्रस्तुत किये हैं। जिनका मुख्याधार पाणिनि किन बातों से परिचित थे या अपरिचित थे, रहा है। इन्हीं आधारों पर पाणिनि का समय 400 ई.पू. निर्धारित करते हैं। लेकिन इन आधारों की अंतरंग साक्ष्य के आधार पर डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल ने अपने ग्रंथ India as known to Panini (पाणिनिकालीन भारत) में विस्तार से आलोचना की है। अत: कभी-कभी 'कालनिर्णय' हेतु ग्रंथकार के ग्रंथ में आई सामग्री के आधार पर भी निर्भर किया जा सकता है। साथ ही तत्कालीन प्रचलित अनुश्रुतियों को भी अनदेखा नहीं छोड़ा जाना चाहिए। इस प्रकार प्राचीन लेख, साहित्य, ग्रंथ एवं अन्य पाण्डुलिपियों के सम्बंध में काल-निर्णय हेतु अन्तरंग साक्ष्य अत्यधिक सहायक हो सकता है।

उपर्युक्त पद्धतियों के अतिरिक्त 'काल-संकेत' की और भी पद्धति है जिसे 'जटिल-पद्धति' कह सकते हैं। प्राय: 15वीं शती के बाद के हस्तलिखित साहित्य या लेखों में इस पद्धति को देखा जा सकता है। इस पद्धति के द्वारा रचनाकार, चमत्कार, कवि कौशल या अनोखापन दिखाने का प्रयास करता है। अथवा यों कहें कि वह नवीनता प्रदर्शित करना चाहता है। डॉ. सत्येन्द्र ने पाण्डुलिपिविज्ञान में एक ऐसा ही उदाहरण हिन्दी के कवि सबलश्याम द्वारा ग्रंथ रचनाकाल का उल्लेख करते हुए दिया है -

संवत सत्रह सै सोरह दस,
कवि दिन तिथि रजनीस वेद रस।
माघ पुनीत मकर गत भानू,
असित पक्ष ऋतु शिशिर समानू।

अर्थात् संवत् सत्रह सै सोरह दस = 1716+10 1726 (विक्रमी)
दिन - कवि दिन = शुक्रवार
तिथि - रजनीस (चंद्रमा) 1 + वेद = 4 + रस - 6 = 11 (एकादशी)
महीना - माघ, असित (कृष्ण) पक्ष, मकर राशि का सूर्य, ऋतु - शिशिर।

इस प्रकार इस कवि ने सामान्य परम्परा से अलग सिद्ध करने का प्रयास किया है। अत: काल-संकेत की यह पद्धति 'जटिल पद्धति' मानी जा सकती है।

3. काल-निर्णय की समस्याएँ

(1) **पाठ-भेद** : उपर्युक्त पद्धतियों से काल-निर्णय करने के उपरान्त भी अनेक समस्याएँ यथार्थ कठिनाइयों के रूप में हमारे समक्ष आती हैं। ये समस्याएँ अधिकांश प्राचीन पाण्डुलिपियों के संदर्भ में आती हैं। जब एक ही ग्रंथ की अनेक प्रतियाँ उपलब्ध हैं और उनके काल (संवत्) विषयक पंक्तियों में **पाठ-भेद** हो। उदाहरणार्थ 'बीसलदेव रास' की 5 प्रतियाँ उपलब्ध हैं। इन प्रतियों की पुष्पिका के आधार पर विद्वानों के 'बीसलदेव रास' के रचनाकाल के संबंध में विभिन्न मत हैं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल 'बारह सै बहोत्तराहा मंझारि' का अर्थ 1212 मानते हैं तो लाला सीताराम 1272। एक प्रति में 'संवत सहस सतिहत्तरई जाणि' - मिलता है। इसका अर्थ संवत् 1077 लिया जाता है तो दूसरी प्रति में 'संवत तेर सत्तोत्तरइ जाणि', मिलता है, जिसके आधार पर 1377 वि. माना जाता है। और एक अन्य प्रति में 'संवत सहस तिहुत्तर जाणि' मिलता है जिसके आधार पर संवत् 1073 माना जाता है। डॉ. माताप्रसाद गुप्त एक अन्य प्रति के आधार पर संवत् 1309 पढ़ते हैं।

इस प्रकार इतने संवतों में से असली संवत् निकाल पाना मुश्किल है। यद्यपि इस समस्या का निदान पाठालोचन के विद्वानों के पास है, फिर भी कभी-कभी तो पाठालोचन के विद्वान भी कोई निर्णय ले पाने में असमर्थ रहते हैं। क्योंकि संवत् का प्रारंभ कहीं चैत्रादि से तो कहीं कार्तिकादि से माना जाता है। अत: ठीक-ठीक तिथि-निर्णय करते समय इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए। इसके अलावा 'संवत्' का उल्लेख 'गत' और 'वर्तमान' दोनों के लिए होता है। यह भी ध्यान रखना चाहिए। पाठ-भेद की समस्या के कारण कभी-कभी पंचांग सिद्ध सम्वत् भी अप्रामाणिक हो जाता है।

(2) **पाठ-दोष** : 'पाठ-भेद' के बाद 'पाठ-दोष' भी समस्याएँ खड़ी कर देता है। इसका मूल कारण है पाठ का 'भ्रान्त-पठन'। भ्रान्त-पठन या वाचन के कारण 'साठ' का 'आठ' पढ़ा जा सकता है। 'चालीस' का 'बालीस' भी पढ़ा जा सकता है। पाठ-दोष के कारण कभी-कभी इतनी विकृति आ जाती है कि उसके मूल की कल्पना करना भी दुष्कर है। ऐसे अनेक उदाहरण देखे जा सकते हैं।[1]

1. पाण्डुलिपिविज्ञान : डॉ. सत्येन्द्र, पृ. 258

(3) विविध सन्-संवत् का उल्लेख : जब किसी ग्रंथ में सामान्य परम्परा से हटकर रचनाकार एकाधिक संवतों को प्रयोग कर देता है, तब भी 'काल निर्णय' में एक समस्या खड़ी हो जाती है। विक्रमी के साथ हिजरी या दोनों के एक साथ आ जाने पर निर्णय करना कठिन हो जाता है। यथा -

संमत सत्रह से ऐकानवे होई, एगारह सै सन पैंतालीस सोई।
अगहन मास पछ अजीयारा, तीरथ तीरोदसी सुकर सँवारा॥

इस छन्द में 'उजियारा' की जगह 'अजीयारा' (शुक्लपक्ष) तथा तीरथ की जगह 'तिथि' होना चाहिए। हो सकता है ये गलत छपे हों। तीरोदसी 'त्रयोदशी' का विकृत रूप है, किन्तु इसमें दिया गया संवत् 1791 और सन् 1145 विशेष रूप से द्रष्टव्य है। इस प्रकार अनेक अभिलेखों एवं ग्रंथों में दो या तीन संवत् अथवा सन् ही नहीं आये हैं अपितु अनेक सन्-संवतों का उल्लेख हुआ है। इसलिए उन्हें वर्तमान ईस्वी सन् एवं विक्रमी नियमित संवतों में बिठाने में समस्या उत्पन्न हो जाती है।

4. भारत में प्रचलित सन्-संवत्

(1) वर्द्धमान संवत् : बड़ली (अजमेर) से प्राप्त शिलालेख में 'वीर संवत्' का उपयोग हुआ है। यह शिलालेख महावीर स्वामी के निर्वाण से 84वें वर्ष में लिखा गया था। आगे चलकर यही 'वीर संवत्' जैन ग्रंथों में वर्द्धमान संवत् के नाम से उपयोग में लाया गया है।

(2) राज्य वर्ष : अशोक के शिलालेखों में राज्य वर्ष का उल्लेख हुआ है।

(3) नियमित संवत् या शक संवत् : शक संवत् अपने 500वें वर्ष तक बिना 'शक' शब्द के मात्र 'वर्षे' या 'संवत्सरे' शब्द से जाना जाता था। इसके बाद 500वें वर्ष से 1262वें वर्ष के मध्य इसके साथ 'शक' शब्द का प्रयोग होने लगा, जिसका अर्थ था - शकनृपति के राज्यारोहण के समय से।

(4) शालिवाइन संवत् : 14वीं शती से शक शब्द के साथ 'शालिवाहन' जोड़ा जाने लगा। 'शाके शालिवाहन संवत्' और 'शक संवत्' एक ही हैं। केवल नाम शालिवाहन अलग से दे दिया गया है। शक-संवत् विक्रम संवत् के 135 वर्ष बाद, सन् 78 ई. में स्थापित हुआ।

(5) कुषाण (कनिष्क) संवत् : इस संवत् को सम्राट कनिष्क ने सन् 120 ई. में प्रचलित किया था, जो लगभग 100 साल तक प्रचलित रहा।

(6) विक्रम (कृत, मालव) संवत् : कृत, मालव या विक्रम सं. राजस्थान और मध्य प्रदेश में संवत् 282 से प्रचलित हुआ। पहले यह 'कृत' संवत् कहलाया, फिर मालव और उसके बाद यही 'विक्रम संवत्' कहलाया। यह संवत् 57 ई. पू. में प्रारम्भ हुआ था। इसमें 135 जोड़ देने से शक संवत् बन जाता है। वि.सं. चैत्र, शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा से प्रारंभ होता है।

(7) गुप्त संवत् : इसका प्रचलन चन्द्रगुप्त प्रथम द्वारा 319 ई. में हुआ। यह चैत्र शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा से ही प्रारंभ होता है। इसका उल्लेख 'गत वर्ष' के रूप में होता है। जहाँ 'वर्तमान' वर्ष का उल्लेख होता है, वहाँ एक वर्ष अधिक गिनना होता है।

(8) वलभी संवत् : गुप्त संवत् ही वलभी संवत् के रूप में प्रचलित हुआ। क्योंकि वलभी (सौराष्ट्र) के शासकों ने गुप्त संवत् को ही अपना लिया था। अतः गुप्त और वलभी में कोई अन्तर नहीं है।

(9) हर्ष संवत् : भारत के सम्राट हर्षवर्धन द्वारा 599 ई. में प्रारंभ किया गया। यह संवत् लगभग 300 वर्ष तक उत्तर भारत और नेपाल में प्रचलित रहा। अल्बरूनी के अनुसार सम्राट श्रीहर्ष, सम्राट विक्रमादित्य के 664 वर्ष बाद हुए थे।

इन प्रमुख सन्-संवतों के अलावा और भी अनेक गौण संवत हैं, जिनका ज्ञान एक पाण्डुलिपि वैज्ञानिक के लिए अपेक्षित माना जाता है। ऐसे कुछ संवतों की सूची निम्न प्रकार है -

1. सप्तर्षि संवत् : इसे कश्मीरी संवत्, लौकिक काल, लौकिक संवत्, शास्त्र संवत्, पहाड़ संवत् या कच्चा संवत् भी कहते हैं। इस संवत् को लिखते समय 100 वर्ष पूर्ण होने पर शताब्दी के अंक को छोड़ देते हैं, फिर एक से आरम्भ कर देते हैं। इसका प्रारंभ चैत्र शुक्ल प्रतिपदा से होता है। और विक्रम संवत् की तरह इसके महीने पूर्णिमांत होते हैं। इसका प्रचलन कश्मीर और पंजाब में रहा है। अन्य संवतों से इसका संबंध इस प्रकार है - शक से शताब्दी के अंक रहित सप्तर्षि संवत् में 46 जोड़ने से शताब्दी के अंक रहित शक (गत) संवत् प्राप्त

होता है। 81 जोड़ने से चैत्रादि विक्रम (गत), 25 जोड़ने से कलियुग (गत) तथा 24 या 25 जोड़ने से ईसवी सन् मिलता है। हमें प्राप्त एक पाण्डुलिपि में उक्त सप्तर्षि संवत् का उल्लेख 'भाषा योगवाशिष्ठ' (पाण्डुलिपि) की पुष्पिका से इस प्रकार प्राप्त हुआ है –

''इति श्री सर्व विद्या निधान कवीन्द्राचार्य सरस्वती विरचितं भाषा योगवाशिष्ठ सारे ज्ञान सारा पर नाम्नि तत्त्व निरूपणं नाम दशमं प्रकरणं ॥ 10 ॥ समाप्तोयं ग्रंथः ॥ संवत् ॥ 39 ॥ कश्मीर मध्ये। शिवराम लिखितं महादेव गिर। पठनार्थे। शुभं भवतु ॥ निरंजनी ॥''[1]

2. कलियुग-संवत् : इसे भारत-युद्ध संवत् या युधिष्ठिर संवत् भी कहते हैं। इसका प्रारंभ ई.पू. 3102 से माना जाता है। ईसवी सन् में 3101 जोड़ने से गत कलियुग संवत् निकल आता है।

3. बुद्ध-निर्वाण-संवत् : यह 487 ई.पू. से प्रारंभ माना जाता है।

4. बार्हस्पत्य-संवत्सर : यह दो प्रकार का होता है – (1) बारह वर्ष का, (2) साठ वर्ष का।[2]

5. ग्रह परिवृत्ति-संवत्सर : यह 'चक्र अस्तित' संवत् है। एक चक्र 90 वर्ष में पूरा होकर पुनः 1 से प्रारंभ हो जाता है। इसमें शताब्दी की संख्या नहीं दी जाती। इसका प्रारंभ ई.पू. 24 से माना जाता है।

6. हिजरी सन् : पैगम्बर मुहम्मद साहब ने जिस दिन मक्का को छोड़ा था, उस छोड़ने को अरबी भाषा में 'हिजरइ' कहते हैं। इसकी स्मृति में प्रचलित सन् को हिजरी सन् कहा जाता है। यह 15 जुलाई 622 ई. तथा संवत् 679 श्रावण शुक्ल 2 विक्रमी की शाम से माना जाता है। इस सन् की प्रत्येक तारीख सायंकाल से प्रारम्भ होकर दूसरे दिन सायंकाल तक रहती है। 'चन्द्र दर्शन' से महीने का प्रारम्भ माना जाता है। इसके 12 महीनों के नाम इस प्रकार हैं – (1) मुहर्रम, (2) सफर, (3) रबीउल अब्बल, (4) रबीउल आखिर या रबी उस्सानी,

1. पाण्डुलिपियों की खोज (लेख) : डॉ. महावीर प्रसाद शर्मा, परिषद् पत्रिका, पटना, जन. 1981, पृ. 78
2. विशेष जानकारी के लिए पाण्डुलिपिविज्ञान : डॉ. सत्येन्द्र, पृ. 263 पर देखिए।

(5) जमादि उस अब्बल, (6) जमादि उल आखिर या जमादि उस्सानी, (7) रजब, (8) शाबान, (9) रमज़ान, (10) शब्बाल, (11) जिष्काद और (12) जिलहिण्ण। यह चन्द्र वर्ष है।

7. शाहूर सन्, सूर सन् या अरबी सन (मृगसाल) : इस सन् का प्रारम्भ 15 मई, 1344 ई. या ज्येष्ठ शुक्ल 2, 1401 विक्रमी से हुआ है, जबकि सूर्य मृगशिर नक्षत्र पर आया था, 1 मुहर्रम हिजरी सन् 745 से हुआ था। इसके महीनों के नाम हिजरी सन् के महीनों के नाम पर ही हैं। लेकिन यह चन्द्र वर्ष न होकर सौर वर्ष है। 'मृगे रवि' अर्थात् जब सूर्य मृगशिर नक्षत्र पर आता है उसी दिन से यह नया वर्ष प्रारंभ होता है। इसलिए कभी-कभी इसे 'मृग-साल' भी कहा जाता है। इस सन् में 599-600 मिलाने से ईसवी सन् तथा 656-657 जोड़ने से विक्रम संवत् प्राप्त होता है। इस सन् के वर्ष अंकों की बजाय अंक द्योतक अरबी शब्दों में अंकित किये जाते हैं।

8. फसली सन् : 'रबी' और 'खरीफ' की फसलों का हासिल निश्चित महीनों में वसूलने के लिए बादशाह अकबर ने इसे हिजरी सन् 971 में प्रारंभ किया था। इस समय वि.सं. 1620 एवं सन् 1563 ई. चल रहा था।

इनके अतिरिक्त और भी अनेक सन्/संवत् भारत में प्रचलित रहे हैं। जैसे - लक्ष्मणसेन संवत् विलायती सन्, अमली सन्, बंगाली सन् या बंगलाक, इलाही सन्, कलचूरी संवत्, भाटिक संवत्, कोल्लम या परशुराम संवत्, नेणार (नेपाल) संवत् आदि। एक पाण्डुलिपि अनुसंधानकर्ता को सन्/संवतों की यह संक्षिप्त जानकारी अति आवश्यक है।

5. कालगणना में आनेवाली अड़चनें

हमारे देश के काल गणना के आधार पर सीधे-सरल न होकर अत्यन्त जटिल हैं। जिसके कारण कालगणना में अनेक प्रकार की अड़चनें आती हैं। जैसे - यह जानना बहुत कठिन है कि वह संवत् चैत्रादि, आषाढ़ादि, श्रावणादि या कार्तिकादि है या अन्य। इसके बाद वह पूर्णिमान्त है या अमान्त। ये वर्ष कभी वर्तमान रूप में, कभी गत, विगत या अतीत रूप में लिखे जाते हैं। सबसे अधिक कठिनाई तो तब होती है जब तिथि लिखते समय लेखक से गणना में भूल हो जाती है। हो सकता है लेखक को बोलने वाले का गणित-ज्ञान ही कमजोर हो।

इस प्रकार की भूलें विभिन्न क्षेत्रों के पंचांगों में विवाद का विषय बन जाया करती हैं। इस कारण किसी भी अभिलेख या लेख का काल निर्धारण करना अत्यधिक जटिल जाता है। इस प्रकार की जटिलता के समय डॉ. एल. डी. स्वामीकन्नु पिल्ले की 'इण्डियन एफिमेरीज' अत्यधिक सहायक सिद्ध हो सकती है।

शब्द में काल-संख्या देना - भारत में शब्दों में अंकों को लिखने की प्रणाली से भी काल-निर्णय में अड़चनें उपस्थित हो जाती हैं। इस संदर्भ में डॉ. सत्येन्द्र कहते हैं कि "यह कठिनाई तब पैदा होती है जब जो शब्द अंक के लिए दिया गया है, उससे दो-दो संख्याएँ प्राप्त होती हैं, जैसे - सागर या समुद्र से दो संख्याएँ मिलती हैं, 4 भी और 7 भी। एक तो कठिनाई यही है कि सागर शब्द से 4 का अंक लिया जाए या 7 का। पर कभी कवि दोनों को ग्रहण करता है, जैसे - 'अष्ट-सागर पयोनिधि चन्द्र' - यह जगदुर्लभ की कृति उद्धव चमत्कार का रचनाकाल है। इसमें सागर भी है और इसी का पर्याय 'पयोनिधि' है। क्या दोनों स्थानों के अंक 4-4 समझे जायें या 7-7 माने जायें या किसी एक का 4 और दूसरे का 7, इस प्रकार इतने संवत् बन सकते हैं : 1448, 1778, 1748, 1478।"[1] वस्तुत: ऐसे दो-तीन अंक बतलाने वाले शब्दों से व्यक्त संवत् को ठीक-ठीक समझने में अत्यधिक कठिनाई होती है। हाँ, यदि ये संवत् अंकों में भी साथ-साथ दिये गये होते तो कठिनाई नहीं होती। यहाँ तक कि यदि अंकों में संवत् नहीं होता तो उसे तिथि, वार, पक्ष या मास के साथ पंचांगों में या 'इण्डियन ऐफीमेरीज' से निकाला जा सकता था। काल निर्णय में 'तिथि' विषयक समस्या तब आती है जब तिथि का नाम उस तिथि के स्वामी के नाम से किया जाता है। 'वंश भास्कर' के कवि सूर्यमल मिश्रण ने ऐसी ही पद्धति अपनाई है। जैसे - 'विषहर तिथ' (पंचमी, नाग पंचमी) 'मनसिज तिथ' (त्रयोदशी, कामदेव की तिथि), भालचंद अइ (चतुर्दशी, शिव की तिथि) आदि। इस प्रकार तिथि का उल्लेख उस तिथि के स्वामी या देवता के नाम से भी किया जाता था। इस बात का भी ध्यान रखना आवश्यक है।

6. काल-संकेत रहित ग्रंथ के काल-निर्णय की पद्धति

पाण्डुलिपिविज्ञान के अनुसंधानकर्ता को प्राय: ऐसी अनेक रचनाएँ खोज-कार्य के दौरान प्राप्त होती हैं, जिन पर किसी भी प्रकार का 'रचनाकाल' का

1. पाण्डुलिपिविज्ञान, पृ. 273

संकेत नहीं दिया होता है। ऐसी परिस्थिति में 'काल-निर्णय' हेतु निम्नलिखित साक्ष्यों का सहारा लेना पड़ता है : (क) बाह्य साक्ष्य (ख) अन्त:साक्ष्य।

1. **बाह्य साक्ष्य** में निम्नलिखित बातों का आश्रय लेना पड़ता है -
   (क) बाह्य उल्लेख - अन्य सम-सामयिक रचनाकारों द्वारा उल्लेख
   (ख) रचनाकार विषयक लोक-अनुश्रुतियाँ
   (ग) ऐतिहासिक घटना-क्रम
   (घ) सामाजिक परिस्थितियाँ
   (ङ) सांस्कृतिक परिवेश

2. **अन्त:साक्ष्य**

(क) स्थूल-पक्ष : (1) लिप्यासन-कागजादि, (2) स्याही, (3) लिपि, (4) लेखन-शैली, (5) अलंकार, (6) अन्य।

(ख) सूक्ष्म-पक्ष : (1) विषयवस्तु से, (2) रचना में आये उल्लेखों से, (क) ऐतिहासिक, (ख) ग्रंथकारों/रचनाकारों के उल्लेख, (ग) समय-वर्णन, (घ) सांस्कृतिक विवरण, (ङ) सामाजिक परिवेश।

(ग) भाषा-वैशिष्ट्य से : (1) व्याकरण संबंधी, (2) शब्द संबंधी, (3) मुहावरों संबंधी।

3. **वैज्ञानिक प्रविधि** : (क) प्राप्ति स्थान का भूमि-परीक्षण, (ख) वृक्ष परीक्षण, (ग) कोयले से आदि।

(क) बाह्य साक्ष्य : जिस ग्रंथ का रचनाकाल संबंधी संकेत-सूत्र रचना में नहीं प्राप्त होता है तब हमें बाह्य साक्ष्य का सहारा लेना पड़ता। ऐसी परिस्थिति में संदर्भ-ग्रंथों का अवलोकन करना चाहिए। क्योंकि कई बार इन संदर्भ-ग्रंथों में आलोच्य रचनाकार एवं उनके ग्रंथों के विवरण के सूत्र भी मिल जाते हैं। जैसे - नाभादास कृत भक्तमाल और उसकी टीकाओं में मध्यकालीन संत-भक्तों का उल्लेख किया गया है। हो सकता है आलोच्य कवि या ग्रंथकार के संबंध में भी वहाँ कोई सूत्र मिल जाये। इससे उस कवि के काल-निर्णय में काफी सहायता मिल सकती है। क्योंकि सामान्यत: जिन रचनाकारों का भक्तमाल में उल्लेख है वे 'भक्तमाल' के समसामयिक या पूर्व के ही हो सकते हैं। इस प्रकार

कालनिर्णय की दृष्टि से निचली सीमा का पता तो लग ही जाता है। लेकिन कई बार ऐसे संदर्भ ग्रंथों में प्रक्षिप्तांश की गुंजाइश रहती है। अत: ध्यान यह रखना चाहिए कि वे अंश मूल ही हों, क्षेपक नहीं।

संदर्भ ग्रंथ के अलावा, कई बार एक ही रचनाकार पर पूरा ग्रंथ लिखा हुआ भी मिल सकता है। किन्तु पाठालोचन आदि की दृष्टि से उसकी प्रामाणिकता संदेह रहित होनी चाहिए। उदाहरण के लिए महात्मा तुलसी के एक अन्तेवासी वेणीमाधवदास ने 'मूलगुसांई चरित' लिखा। इस ग्रंथ से तुलसी विषयक काल-संकेत संबंधी प्रामाणिक सूचना मिलने की उम्मीद की जा सकती है। लेकिन जब 'मूलगुसांई चरित' की प्रामाणिकता का आकलन किया गया तो यह रचना ही अप्रामाणिक निकली। डॉ. उदयभानुसिंह[1] ने तो इसकी अप्रामाणिकता के 14 कारण भी तर्क सहित प्रस्तुत कर दिये। उन्होंने साफ लिखा है कि 'मूल गोसांई चरित' एक अविश्वसनीय पुस्तक है। यही बात डॉ. रामदत्त भारद्वाज[2] एवं डॉ. माता प्रसाद गुप्त[3] भी मानते हैं। अत: बहि:साक्ष्य को महत्व देते समय उस ग्रंथ की प्रामाणिकता की परीक्षा अवश्य की जानी चाहिए। यदि ग्रंथ प्रामाणिक है तो अज्ञात कवि का पता भी चल जाता है और उसकी निचली कालावधि भी विदित हो जाती है।

(ख) रचनाकार विषयक लोकानुश्रुतियाँ : काल-संकेत रहित रचनाओं के काल-निर्णय में लोकानुश्रुतियाँ भी कभी-कभी बहुत सहायक सिद्ध हो जाती हैं। उनमें कभी-कभी खोई हुई कड़ियाँ मिल जाया करती हैं। ऐसी परिस्थिति में रचनाकार विषयक लोकानुश्रुतियों का संग्रह कर उनकी प्रामाणिकता की परीक्षा करनी चाहिए। लेकिन जनश्रुतियाँ यदि इतिहाससम्मत नहीं हैं तो वे प्रामाणिक नहीं मानी जा सकतीं। महात्मा तुलसीदास एवं मीरां के संदर्भ में यह अनुश्रुति है कि मीरां ने उनको पत्र लिखा था और उन्होंने उसका जवाब दिया था। किन्तु ऐतिहासिक प्रमाणों से यह सिद्ध है कि मीरां तुलसी से पूर्व ही स्वर्गीय हो चुकी थीं। इसलिए कोई भी जनश्रुति तब तक व्यर्थ है जब तक कि वह अन्य ठोस आधारों से प्रामाणिक नहीं मान ली जाये।

1. तुलसी काव्य मीमांसा : डॉ. उदयभानुसिंह, पृ. 23-35
2. गोस्वामी तुलसीदास : डॉ. रामदत्त भारद्वाज, पृ. 48
3. तुलसीदास : डॉ. माताप्रसाद गुप्त, पृ. 47

(ग) ऐतिहासिक घटनाक्रम : काल-निर्णय हेतु ऐतिहासिक घटनाक्रम का भी महत्वपूर्ण स्थान है। ये बाह्य साक्ष्य कहलाती हैं। किसी अन्त:साक्ष्य के सहारे इनकी सहायता ली जा सकती है। इस सम्बन्ध में डॉ. सत्येन्द्र कहते हैं कि "वामन के सम्बन्ध में राजतरंगिणी में उल्लेख है कि वह जयापीड़ का मंत्री था और व्यूहलर ने बताया है कि काश्मीरी पंडितों में यह जनश्रुति है कि यह जयापीड़ का मंत्री वामन ही 'काव्यालंकार सूत्र' का रचयिता और 'रीति' सम्प्रदाय का प्रवर्तक है। इस ऐतिहासिक आधार पर 'वामन' का काल 200 ई. के लगभग निर्धारित किया जा सकता है। इस संबंध का कोई संदर्भ हमें वामन की कृति में नहीं मिलता। इतिहास का उल्लेख और अनुश्रुति से पुष्टि - ये दो बातें ही इसका आधार हैं। हाँ, अन्य बहि:साक्ष्यों से पुष्टि अवश्य होती है। अत: किसी भी ऐसे स्वतंत्र ऐतिहासिक उल्लेख की अन्य विधि से भी पुष्टि की जानी चाहिए।"[1] इसी प्रकार अन्त:साक्ष्य के सहारे या ऐतिहासिक घटनाक्रम के आधार पर काल-निर्णय की दृष्टि से वे 'भट्टि' एवं 'पझावत' के उदाहरणों पर भी विस्तार से चर्चा करते हैं।[2]

(घ) सामाजिक परिस्थितियाँ एवं (ङ) सांस्कृतिक परिवेश : वस्तुत: समाज और संस्कृति अन्योन्याश्रित हैं। अंतरंग साक्ष्य से प्राप्त सामाजिक एवं सांस्कृतिक सामग्री का साम्य बाह्य साक्ष्य से मिलान कर किसी रचना के काल-निर्णय में सहायता ली जा सकती है। क्योंकि काल-निर्णय में बाह्य-साक्ष्य की अति महत्वपूर्ण भूमिका होती है। सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवेश को काल-क्रम निर्धारण में उपयोगी बनाने के लिए उनका स्वयं का काल-क्रम ऐतिहासिक आधार से सुनिश्चित करना होगा। सामाजिक परिस्थितियों एवं सांस्कृतिक परिवेश के साक्ष्य के आधार पर डॉ. माताप्रसाद गुप्त ने अपनी 'बसन्त विलास और उसकी भाषा' नामक पुस्तक में काल-निर्णय करने का प्रयत्न किया है। 'बसन्त विलास' की रचना के काल निर्धारण में भाषा को आधार बनाकर उसे सन् 1400 से 1424 ई. के मध्य की रचना माना जाता था। किन्तु डॉ. गुप्त ने इस मत का खण्डन करते हुए कहा है कि - "कृति के रचना-काल का उसमें कोई उल्लेख नहीं है। उसकी प्राचीनतम प्राप्त प्रति सं. 1508 की है, इसलिये

1. पाण्डुलिपिविज्ञान, पृ. 285
2. वही, पृ. 285-289

यह उसकी रचना-तिथि की एक सीमा है। सं. 1508 की प्रति का पाठ अवश्य ही कुछ न कुछ प्रेक्षण पूर्ण हो सकता है, क्योंकि वही सबसे बड़ा है, और पाठान्तरों की दृष्टि से अनेक स्थलों पर उससे भिन्न प्रतियों के पाठ अधिक प्राचीन ज्ञात होते हैं, इसलिये रचना का समय सामान्यत: उससे काफी पहले का होना चाहिए। यह स्पष्ट है जैसा ऊपर कहा जा चुका है, प्राय: विद्वानों ने रचना की उक्त प्राचीनतम प्राप्त प्रति की तिथि से उसे एक शताब्दी पूर्व माना है। किन्तु मेरी समझ में यहाँ उन्होंने अटकल से ही काम लिया है। पूरी रचना आमोद-प्रमोद और क्रीड़ापूर्ण नागरिक जीवन का ऐसा चित्र उपस्थित करती है जो मुख्य हिन्दी प्रदेश में 1250 वि. की जयचंद पर मुहम्मद गौरी की विजय के अनन्तर और गुजरात में 1356 वि. के अलाउद्दीन के सेनापति उलुगखाँ की विजय के अनन्तर इस्लामी शासन के स्थापित होने पर समाप्त हो गया था। इसलिए रचना अधिक से अधिक विक्रमीय 14वीं शती के मध्य, ईस्वी 13वीं शती की होना चाहिए।''[1]

इसके बाद निष्कर्ष रूप में डॉ. गुप्त कहते हैं - ''इस व्याख्या से यह स्पष्ट ज्ञात होगा कि तेरहवीं शती ईस्वी की मुसलमानों की उत्तर भारत विजय से पूर्व का ही नागरिक जीवन रचना में चित्रित है। मुसलमानों के शासन के अन्तर्गत इस प्रकार की स्वच्छन्दता से नगर के युवक-युवतियों की नगर के क्रीड़ावनों में मिलने की कोई कल्पना नहीं कर सकता है जैसी वह इस काव्य में वर्णित हुई है। कवि किसी पूर्ववर्ती ऐतिहासिक युग का इसमें वर्णन भी नहीं करता है, वह अपने ही समय के वसन्त के उल्लास-विलास का वर्णन करता है, इसलिए मेरा अनुमान है कि 'बसन्तविलास' का रचनाकाल सं. 1356 के पूर्व का तो होना चाहिए और यदि वह सं. 1250 से भी पूर्व की रचना प्रमाणित हो तो मुझे आश्चर्य न होगा। संभव है उसकी भाषा का प्राप्त रूप इस परिणाम को स्वीकार करने में बाधक हो। किन्तु भाषा प्रतिलिपि-परम्परा में घिसकर धीरे-धीरे अधिकाधिक आधुनिक होती जाती है। इसलिए भाषा का स्वरूप प्राप्त परिणाम को स्वीकार करने में बाधक नहीं होना चाहिए।''[2]

1. बसन्तविलास और उसकी भाषा : डॉ. माताप्रसाद गुप्त, पृ. 4-5
2. वही, पृ. 8

इस प्रकार सामाजिक परिस्थितियाँ एवं सांस्कृतिक परिवेश से पूर्ण सामग्री को काल-निर्णय का आधार बनाया जा सकता है।

अन्त में, जिस प्रकार सामाजिक और सांस्कृतिक परिवेश का उपर्युक्त प्रकार से काल-निर्णय के लिए साक्ष्य बनाया जा सकता है, उसी प्रकार धर्म, राजनीति, शिक्षा, ज्योतिष, आर्थिक पहलू आदि भी अपनी-अपनी प्रकार से काल सापेक्ष होते हैं। अत: काल-निर्णय में मात्र किसी एक आधार से काम नहीं चल पाता, जितनी भी बातों में काल-सूचक बीज होने की सम्भावना हो सकती है, उनकी परीक्षा की जानी आवश्यक है। डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल ने अपने ग्रंथ 'पाणिनि-कालीन भारत में इसी पद्धति का अनुसरण करते हुए पाणिनि का काल-निर्णय करने में साहित्यिक तर्कों का आश्रय लिया था, जिसमें गोल्ड स्टुकर के इस तर्क को काटने के लिए कि पाणिनि आरण्यक, उपनिषद्, प्रातिशाख्य, वाजसनेयी संहिता, शतपथ ब्राह्मण, अथर्ववेद और षड्दर्शन से परिचित नहीं थे, अत: यास्क के बाद पाणिनि हुए थे। उन्होंने मस्करी परिव्राजक, एक विशेष शब्द, बुद्ध-धर्म, श्राविष्ठा प्रथम नक्षत्र, नन्द से संबंध, राजनीतिक सामग्री, यवनानी लिपि का उल्लेख, पशुविषयक कथान्त स्थान नाम, क्षुद्रक-मालय, पाणिनि और कौटिल्य आदि की परीक्षा की थी। जिससे वे यह सिद्ध कर सके कि पाणिनि बुद्ध से पूर्व न होकर बाद में हुए। इस प्रकार पूर्व तर्कों का खण्डन-मण्डन करने के लिए बाह्य और अंतरंग साक्ष्यों की परीक्षा करनी होती है।

2. अन्तरंग साक्ष्य

(क) स्थूल-पक्ष : रचना के अन्तरंग साक्ष्य के अन्तर्गत स्थूल-पक्ष से अभिप्राय उन भौतिक वस्तुओं से होता है जिनसे उस रचना या ग्रंथ का निर्माण हुआ है। इसे वस्तुगत पक्ष भी कह सकते हैं। जैसे - कागज, ताड़पत्र, स्याही आदि। ग्रंथ का आकार-प्रकार, स्याही, लिपि, लेखन-शैली, अलंकरण आदि भी स्थूल-पक्ष के ही अंग हैं। इन सभी बातों से यह देखना होता है कि ये सभी या इनमें से कोई एक काल-निर्णय का आधार बनाया जा सकता है या नहीं। हम यहाँ प्रत्येक पर प्रकाश डालने का प्रयास करेंगे।

(1) लिप्यासन (कागजादि) : लिप्यासन से अभिप्राय लेखन के आधार से है। वह ईंट, पत्थर, धातु, चमड़ा, ताड़पत्र, वृक्षों की छाल, कागज आदि कोई

भी हो सकते हैं। लिपिविज्ञान के विद्यार्थी यह भलिभाँति जानते हैं कि लिप्यासनों के प्रकारों से लेखन के विभिन्न युगों से संबंध है। उदाहरण के लिए ईसा से 3000 वर्ष पूर्व तक ईंटों पर लेखन होता था। इसके बाद 3000 ई.पू. से पेपीरस के खरड़ों (Rales) का युग आता है। इसी तरह ई.पू. 1000 से 800 के मध्य कोडेक्स या चर्म-पुस्तकों का युग माना जाता है। बाद में सन् 105 ई. से लिप्यासन के लिए कागजों का प्रयोग प्रारंभ होता है। इसके साथ ही अन्य लिप्यासनों का प्रयोग भारत में प्राय: बन्द-सा हो गया था। कागज का सर्वाधिक उपयोग हुआ। कागजादि लिप्यासनों पर भी काल का प्रभाव पड़ता है। यह प्रभाव जलवायु और वातावरण के अनुसार कम या ज्यादा पड़ता रहता है। पाण्डुलिपि विज्ञान का जानकार व्यक्ति पाण्डुलिपि के कागज आदि को देख कर अनुभव से काल-निर्णय का अनुमान लगा सकता है। इस अनुमान को फिर अन्य पुष्ट-प्रमाणों से पुष्ट किया जाता है। इसी प्रकार एक ही प्रकार की दो पाण्डुलिपियों में कागज की जीर्ण-शीर्णता के द्वारा भी उसकी प्राचीनता का अनुमान लगाया जा सकता है। यह भी देखना होता है कि कागज देशी है या मिल का बना। क्योंकि हमारे देश में 20वीं शती पूर्व प्राय: देशी कागज ही पाण्डुलिपियों में काम में आता था। अत: किसी वैज्ञानिक साधन के द्वारा कागज की प्राचीनता को निश्चित किया जा सकता है।

(2) स्याही : प्रति के काल-संकेत का पता लगाने में व्यवहृत स्याही भी बड़ी सहयोगी सिद्ध हो सकती है। आजकल प्रचलित वैज्ञानिक विधि से स्याही के द्वारा रचना के काल का संकेत प्राप्त किया जा सकता है। इस दृष्टि से स्वानुभव द्वारा भी स्याही की प्राचीनता का अनुमान किया जा सकता है।

(3) लिपि : प्रत्येक लिपिक या लेखक का अपना लिखने का एक ढंग होता है। इसमें यह देखना होता है कि जिस लिपि में लेखक ने लिखा है उसका रूप और अक्षर किस प्रकार लिखे गए हैं। क्योंकि लिपि एक विकासात्मक प्रक्रिया है। लिपि वैज्ञानिकों ने शिलालेखों की प्राचीन 8 वर्णमाला से लेकर आज तक के लेखन की कला का काल विभाजन भी किया है। इसके अन्तर्गत अक्षर का एक लिपि-रूप एक विशेष काल-सीमा में चला है। इस प्रकार डॉ. ओझा ने अपने प्राचीन लिपिमाला ग्रंथ में ऐसे चार्ट प्रस्तुत किये हैं जिनसे यह पता लग

सकता है कि कौनसी शती से कब तक अमुक अक्षर कैसे लिखा जाता रहा है। उसकी बनावट देख कर रचना के काल का संकेत लिया जा सकता है। कई बार एक-सी लिपि की दो पाण्डुलिपियों की तुलना करने पर भी, यदि एक पाण्डुलिपि का काल-ज्ञान है तो अनुमान से दूसरी का भी काल-संकेत ग्रहण करने में मदद मिलती है। डॉ. माताप्रसाद गुप्त ने शिलांकित 'राउलवेल' नामक रचनाकाल निर्णय इसी तुलनात्मक विधि से किया था। वे कहते हैं[1], "ऐसी परिस्थितियों में लेख का समय-निर्धारण केवल लिपि-विन्यास के आधार पर संभव है। इसकी लिपि सम्पूर्ण रूप से भोजदेव के 'कूर्मशतक' वाले धार के शिलालेख से मिलती है। (दे. इपिग्राफिया इंडिका, जिल्द 8, पृ. 241)। दोनों में किसी भी मात्रा में अन्तर नहीं है और उसके कुछ बाद के लिखे हुए अर्जुन वर्मन देव के समय के 'पारिजात मंजरी' के धार के शिलालेख की लिपि किंचित् बदली हुई है (दे. इपिग्राफिया इंडिका, जिल्द 8, पृ. 96) इसलिए इस लेख का समय 'कूर्मशतक' के उक्त शिलालेख के आस-पास ही अर्थात् 11वीं शती ईस्वी होना चाहिए।

इससे स्पष्ट है कि लिपि द्वारा भी काल निर्णय किया जा सकता है; क्योंकि लिपि का विशेष रूप काल से सम्बद्ध है और ज्ञातकालीन रचना की लिपि से तुलना करने पर साम्य देख कर काल-निर्धारण किया जा सकता है।

(4) लेखन-शैली एवं (5) अलंकरण : अन्त:साक्ष्य में लेखन शैली एवं अलंकरणादि का प्रयोग भी काल-निर्णय करने में बड़े सहायक सिद्ध हो सकते हैं। क्योंकि प्रत्येक युग या काल की लेखन-शैली की अपनी विशेषता होती है। लिखने की पद्धति, उसे अलंकृत करने के प्रतीक-चिह्न, उनसे संबंधित संकेताक्षरों का प्रयोग, मांगलिक चिह्नों का अंकन आदि सभी काल सापेक्ष ही हैं। उदाहरण के लिए पाँचवीं शती ईसा पूर्व जिन संकेत चिह्नों का प्रयोग किया जाता था, वह बाद में नहीं मिलता। जैसे - स, समु, सव, सम्व, संवत् संकेताक्षरों का प्रयोग 'संवत्सर के लिए' होता था। इसी तरह बाद के संकेताक्षरों के द्वारा भी एक कालक्रम निर्धारित किया जा सकता है।

लेखन शैली में संबोधन एवं उपाधिबोधक शब्दों का भी महत्व है। उदाहरण के लिए नाट्यशास्त्र में प्रयुक्त 'स्वामी' शब्द को लिया जा सकता है। भरतमुनि

1. राउलवेल और उसकी भाषा, पृ. 19

के 'नाट्यशास्त्र' के काल निर्णय की समस्या का समाधान इसी उपाधिसूचक शब्द से किया गया है। अनेक विद्वानों ने अपनी तरह से 'नाट्यशास्त्र' का रचना-काल निर्धारित करने के प्रयत्न किये हैं, परकाणे महोदय ने प्रो. सिल्वियन लेवी का एक उदाहरण दिया है कि उन्होंने 'नाट्यशास्त्र' में संबोधन संबंधी शब्दों में 'स्वामी' का आधार लेकर और चष्टन जैसे भारतीय शक शासक के लेख में चष्टन के लिए 'स्वामी' का उपयोग देखकर यह सिद्ध किया कि भारतीय 'नाट्यकला' का आरम्भ भारतीय शकों के क्षत्रपों के दरबारों से हुआ अर्थात् विदेशी शक-राज्यों की स्थापना से पूर्व भारतवासी नाटक से अनभिज्ञ थे। नाट्यशास्त्र में 'स्वामी' शब्द का सम्बोधन भी शक शासकों के दरबारों में प्रचलित शिष्ट प्रयोगों से लिया गया है।''[1] इस प्रकार 'स्वामी' सम्बोधन को देखकर और नाट्यशास्त्र में राजा के लिए उसे प्रयुक्त बताया देखकर कुछ विद्वान नाट्यकला का आरंभ भी विदेशी शक शासकों से मानने लगे थे। राजन्, महाराजा, महाराजाधिराज, राजाधिराज परमेश्वर, महाप्रतिहार आदि उपाधियों और नामों की एक लम्बी सूची बनायी जा सकती है और प्रत्येक की कालावधि ऐतिहासिक काल-क्रमणिका में स्थिर की जा सकती है, तब ये काल-निर्धारण में अधिक सहायक हो सकते हैं।[2]

इसी तरह अलंकरणादि का प्रयोग भी काल-क्रमानुसार मिला करते हैं। अत: उनकी भी क्रमबद्ध सूची बनाकर काल-संकेत ग्रहण किये जा सकते हैं।

(ख) सूक्ष्म-साक्ष्य के अन्तर्गत जिन बातों का सहयोग लिया जा सकता है वे निम्नलिखित हैं - (1) विषयवस्तु, (2) रचना में आये उल्लेख - (क) ऐतिहासिक (ख) रचनाकारों के उल्लेख (ग) समय-संकेत, (घ) सांस्कृतिक विवरण, (ङ) सामाजिक परिवेश।

(1) विषय-वस्तु सम्बंधी साक्ष्य में वस्तु संबंधी बातें आती हैं। जैसे - काणे महोदय ने भरत के 'नाट्यशास्त्र' के काल-निर्णय संबंधी चर्चा करते हुए उसमें उल्लिखित चार अलंकारों का विवरण दिया है। वे हैं - उपमा, दीपक, रूपक एवं यमक। उनका कहना है कि 500-600 ई. में भट्टी, भामह, दण्डी और उद्‌भट ने

1. पाण्डुलिपिविज्ञान, पृ. 286
2. पाण्डुलिपिविज्ञान, पृ. 297

30 से अधिक अलंकारों की चर्चा की है। यदि नाट्यशास्त्र इसी समय के आसपास की रचना होती तो उसमें भी केवल चार ही अलंकारों का जिक्र नहीं होता। इसका अभिप्राय यह हुआ कि नाट्यशास्त्र इससे भी पूर्व की रचना है। अर्थात् नाट्यशास्त्र 300 ई. से बाद की रचना नहीं है।[1] इससे स्पष्ट है कि विषय-वस्तु के अंश को आधार बनाकर काणे महोदय ने काल-निर्णय में सहायता दी है। इसी प्रकार पाणिनि का काल-निर्धारित करते समय डॉ. वासुदेव अग्रवाल ने भी अनेक वस्तुगत संदर्भों को आधार बनाया है। कहने का अभिप्राय यह है कि अंत:साक्ष्य की वस्तु के अंशों की साहित्यिक, ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, राजनीतिक, ज्योतिष आदि के ग्रंथों की सहायता से काल निर्णय किया जा सकता है।

(ग) भाषा - अंतरंग-साक्ष्य के अन्तर्गत स्थूल-पक्ष के अतिरिक्त प्रथम साक्ष्य भाषा का है। 'भाषा' का इतिहास भी काल-क्रमानुसार रूप-परिवर्तन आदि को प्राप्त कर आगे बढ़ता है। अत: भाषा-पंडित उसकी रूप-रचना और शब्द-कोश तथा व्याकरणात्मक स्थितियों के आधार पर विकास के अनेक चरणों को भिन्न-भिन्न कालों में बाँटकर, काल-निर्णय करने हेतु सहायक के रूप में उसका उपयोग कर सकता है। डॉ. माताप्रसाद गुप्त के 'बसंत-विलास' का काल-निर्णय इसी आधार पर किया था। क्योंकि 'बसन्त-विलास' में काल-विषयक कोई संकेत नहीं था। तब तत्कालीन प्रामाणिक-ग्रंथों की भाषा से ही तुलना कर काल संकेत प्राप्त किये जा सकते थे। डॉ. गुप्त ने भी काल-निर्णय में भाषा साक्ष्य के लिए 1330 से लेकर 1500 वि. संवत् तक की कालावधि के मध्य के प्रामाणिक ग्रंथों को लेकर उनसे तुलनापूर्वक बसन्त विलास के काल-का निर्धारण किया था।[2] इससे सिद्ध होता है कि भाषा का साक्ष्य काल-निर्धारण में मुख्य भूमिका निभा सकता है।

3. वैज्ञानिक प्रविधि : वैज्ञानिक प्रविधि से भी काल-निर्णय करने में सहायता ली जाती है। इस विधि का उपयोग तब किया जाता है जब कोई कृति अथवा अभिलेख जमीन में से खोद कर प्राप्त किया जाता है। खोद कर प्राप्त की हुई सामग्री पर सन्-संवत् या तिथि के न होने की परिस्थिति में उस जगह

1. Sahitya Darpan (Introduction) P. XI
2. पाण्डुलिपिविज्ञान, डॉ. सत्येन्द्र, पृ. 299

की मिट्टी या वृक्ष के तने या कोयले आदि की वैज्ञानिक जाँच की जाती है। उससे उनकी रेडियो एक्टिव कार्बन विधि से काल-निर्णय लिया जाता है। मोहन जोदड़ो और हड़प्पा की खुदाई में प्राप्त सामग्री का काल निर्धारण करने में पृथ्वी पर जमी पर्तों को आधार बनाया गया था। प्राय: यह माना जाता है कि प्रत्येक सौ साल में पृथ्वी पर $3^{1}/_{2}$ इंच मोटी परत जम जाती है। इसी अनुमान से जितनी गहराई से सामग्री प्राप्त होती है उसका काल अनुमानित कर लिया जाता है।

इसी प्रकार "यदि उस भूमि पर वृक्ष उगे हुए हैं तो वृक्षों के तने काट कर देखने पर उसमें एक के ऊपर एक कितनी ही पर्त दिखाई पड़ती हैं, उनके आधार पर उस वृक्ष का भी समय निर्धारित किया जा सकता है। भूमि और वृक्ष दोनों की परतों से उस वस्तु का काल प्राप्त हो सकता है। ये दोनों ही प्रणालियाँ वैज्ञानिक हैं। ज्योतिष की गणना की पद्धति भी वैज्ञानिक ही है। पर अभी हाल ही में संयुक्त राज्य के प्रो. एम. सी. लिब्बी ने रेडियोएक्टिव कार्बन से काल-निर्धारण की वैज्ञानिक विधि का उद्घाटन किया। टाटा इंस्टीट्यूट ऑव फंडामेंटल रिसर्च नामक मुम्बई स्थित संस्थान ने 1951 ई. से 'रेडियो-कार्बन काल-निर्धारण विभाग स्थापित कर रखा है, इसकी प्रयोगशाला में 'कार्बन' रेडियोधर्मिता के आधार पर काल-निर्धारण की विशद पद्धति विकसित करली है। इससे वस्तुओं के काल-निर्धारण का कार्य सम्पन्न किया जाता है।"[1]

इस प्रकार काल-निर्णय संबंधी अनेक समस्याएँ आ सकती हैं, जिनकी संक्षिप्त जानकारी देने का यहाँ प्रयास किया गया है।

7. कवि-नाम निर्धारण की समस्या

पाण्डुलिपिविज्ञान की अन्य अनेक समस्याओं की तरह कवि-नाम निर्धारण की समस्या भी बहुत जटिल है। पाण्डुलिपि संग्रह में कई बार ऐसे ग्रंथ भी हमारे सामने आते हैं, जिनमें प्रत्यक्षत: रचनाकार के नाम का उल्लेख नहीं होता, अथवा मिलते-जुलते एकाधिक नामों का एक साथ उल्लेख होता है अथवा ग्रंथ के लिपिकर्ता को ही रचनाकार मान लिया जाता है। अत: यह जानना कठिन हो जाता है कि रचना का मूल कवि या रचनाकार कौन है? इस समस्या के अनेक कारण हो सकते हैं। कुछ का उल्लेख डॉ. सत्येन्द्र जी ने इस प्रकार किया है -

1. पाण्डुलिपिविज्ञान, डॉ. सत्येन्द्र, पृ. 300

1. कवि ने नाम ही न दिया हो जैसे ध्वन्यालोक में।
2. कवि ने नाम ऐसा दिया हो कि वह सन्देहास्पद लगे।
3. कवि ने कुछ इस प्रकार अपने नाम दिये हों कि प्रतीत हो कि वे अलग-अलग हैं।

कवि हैं - एक कवि नहीं - सूरदास, सूर, सूरज आदि या ममारिक और मुबारक या नारायण दास और नाभा।

4. कवि का नाम ऐसा हो कि उसके ऐतिहासिक अस्तित्व को सिद्ध न किया जा सके, यथा - चन्दवरदायी।
5. ग्रंथ सम्मिलित कृतित्व हो, कहीं एक कवि का तो कहीं दूसरे का नाम दिया गया हो। जैसे - 'प्रवीणसागर' का।
6. ग्रंथ अप्रामाणिक हो और कवि का नाम जो दिया गया हो, वह झूठा हो, यथा - 'मूल गुसाईं चरित', बाबा वेणीमाधवदास कृत।
7. कवि में पूरक कृतित्व हो। इससे यथार्थ के सम्बन्ध में भ्रांति होती हो, जैसे - चतुर्भुज का मधुमालती और पूरक कृतित्व उसमें गोयम का।
8. विद्वानों में किसी ग्रंथ के कृतिकार कवि के सम्बंध में परस्पर मतभेद हो।
9. ग्रंथ के कई पक्ष हों; यथा - मूल ग्रंथ, उसकी वृत्ति और उसकी टीका। हो सकता है मूल ग्रंथ और वृत्ति का लेखक एक ही हो या अलग-अलग हो - जिससे भ्रम उत्पन्न होता हो। उदाहरणार्थ ध्वन्यालोक की कारिका एवं वृत्ति।
10. लिपिकार को ही कवि समझ लेने का भ्रम, आदि।[1]

ऐसे ही और भी कारण हो सकते हैं। इस प्रकार की कृतियों में 'ध्वन्यालोक' पर विस्तार से चर्चाएँ हुई हैं। यही स्थिति नरपति नाल्ह के सम्बंध में कही जा सकती है। बीसलदेव रासो का रचनाकार गुजराती जैन कवि नरपति था या नरपतिनाल्ह, महाकवि भूषण और मुरलीधर कवि भूषण एक ही हैं या भिन्न-भिन्न[2], पृथ्वीराज रासो का कवि चन्दवरदायी है या कोई और? आदि कई रचनाकारों के बारे में निर्णय करना बड़ा कठिन है।

1. पाण्डुलिपिविज्ञान, पृ. 301
2. ब्रज साहित्य का इतिहास, डॉ. सत्येन्द्र, पृ. 366

इसी प्रकार की समस्या तब भी आती है जब एक ही कवि के एकाधिक नाम मिलते हैं। जैसे - 'सूर सागर' के पदों में सूरदास, सूरश्याम, सूरज, सूरज स्वामी आदि कई नामों की छापें मिलती हैं। 'सूरसागर' के समस्त पद इनमें से किसी एक कवि के हैं या भिन्न-भिन्न कवियों के यह समस्या अभी तक अनसुलझी जैसी ही है। कभी-कभी राज्याश्रित कवि अपने आश्रयदाता का मान बढ़ाने के लिए रचनाकार की जगह आश्रयदाता का नाम दे देते हैं तब बड़ी समस्या खड़ी हो जाती है कि रचनाकार कौन है? 'शृंगारमंजरी' के रचनाकार के लिए यही बात कही जा सकती है। उसके कवि चिन्तामणि हैं या उनके आश्रयदाता 'बड़े साहिब' अकबर साहि? इसी प्रकार अन्य समस्याओं पर भी विचार किया जा सकता है। हम उन्हें विस्तारभय से यहाँ प्रस्तुत नहीं कर रहे हैं। अत: 'पाण्डुलिपिविज्ञान' के विद्यार्थी को ऐसी अनेक समस्याओं से जूझना होगा। ❑

अध्याय 7

शब्द और अर्थ : एक समस्या

वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थौ प्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वती परमेश्वरौ॥ (रघुवंश; कालिदास)

अर्थात् शब्द-अर्थ के समान सम्पृक्त जगत के माता-पिता पार्वती-परमेश्वर की (मैं) वाणी अर्थ की प्रतिपत्ति के लिए वन्दना करता हूँ।

पाण्डुलिपिविज्ञान पाण्डुलिपि का लेखन, कागज, लिपि, कवि या काल मात्र से संबंधित नहीं है, अपितु उसका मूल पाण्डुलिपि के शब्दार्थों में निहित है। अतः शब्द और अर्थ का पाण्डुलिपिविज्ञान में बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनमें भी शब्द अधिक महत्वपूर्ण है, क्योंकि इसी सोपान के सहारे हम कृतिकार के अर्थ तक पहुँचते हैं। यदि शब्दों में अर्थ-संकेत करके मनुष्य ने भाषा न बना ली होती तो क्या होता? इसलिए कहा जाता है कि यदि शब्दात्मक ज्योति का उदय नहीं होता तो यह सम्पूर्ण जगत् अंधकार में ही रहता। यदि कोई शब्द का समुचित प्रयोग करना जानता है तो समझो उसे सब कुछ मिल गया। कहा है -

'एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके कामधुग् भवति'।

अर्थात् एक शब्द भी यदि अच्छी तरह जानकर सुप्रयुक्त किया जाए, तो वह स्वर्गलोक में (प्रयोग करने वाले के लिए) कामधेनु होता है।[1]

1. शब्द-समस्या

शब्द कई प्रकार के होते हैं; जो अर्थ प्रक्रिया को समझने में सहायक होते हैं।

शब्द-प्रकार

(1) रूढ़, यौगिक तथा योगरूढ़ : इस शब्द-भेद (प्रकार) के द्वारा अर्थ-प्रदान की प्रक्रिया प्रकट होती है। ये प्रक्रियाएँ तीन प्रकार की होती हैं।

1. अच्छी हिन्दी : किशोरीदास वाजपेयी, पृ. 83

(क) रूढ़ : रूढ़ शब्द का एक मूल रूप होता है, जिसका कुछ अर्थ होता है। यह 'अर्थ' उस शब्द के मूलरूप के साथ 'रूढ़' हो जाता है। जैसे - 'गाय' या 'गौ' शब्द-रूप का जो अर्थ है वह रूढ़ है, क्योंकि न जाने कब से इन दोनों में अभिन्न संबंध रहा है। अत: 'गौ' शब्द के साथ उसका अर्थ रूढ़ि या परम्परा से प्रचलित हो गया।

(ख) यौगिक : जहाँ रूढ़ शब्द के साथ एक से अधिक ऐसे शब्द परस्पर मिल जायें या इनका योग हो जाये उन्हें यौगिक कहते हैं। जैसे - 'विद्या' रूढ़ शब्द है और 'बल' भी वैसा ही रूढ़ है; किन्तु विद्याबल, विद्यार्थी, विद्यालय आदि शब्दों के अर्थ में प्रक्रिया कुछ भिन्न होती है। इनमें से प्रत्येक शब्द अपने रूढ़ अर्थ के साथ परस्पर मिला है और यह 'यौगिक' शब्द रूप अर्थाभिव्यक्ति को विशिष्टता प्रदान करता है। 'विद्याबल' से उस शक्ति का अर्थ मिलता है जो विद्या में निहित है और विद्या में से विद्या के द्वारा प्रकट होता है।[1]

(ग) योगरूढ़ : इस प्रक्रिया में दो या अधिक शब्द परस्पर इस प्रकार का योग करते हैं कि उनके द्वारा प्रदत्त अर्थ, निर्मायक शब्दों के रूढ़ार्थों से भिन्न होते हुए भी, रूप में यौगिक उस शब्द को एक अलग रूढ़-अर्थ प्रदान करता है। जैसे - 'जलज' शब्द जल और ज (उत्पन्न) दो शब्दों का यौगिक है, जिससे 'कमल' नामक पुष्प विशेष का ही अर्थ लिया जाता है। यद्यपि 'जलज' के यौगिक अर्थ में मछली, मूँगा, मोती, सीपी आदि भी संकेतित होते हैं; किन्तु उसका यह अर्थ 'कमल' के साथ रूढ़ हो गया है। अत: यह 'योगरूढ़' कहलाता है। इस प्रकार लिपिज्ञों की दृष्टि से ये भेद कोई समस्या नहीं उठाते।

शब्द के ये भेद आधुनिक भाषा वैज्ञानिकों के लिए समस्यात्मक हैं। पाण्डुलिपिविज्ञान में तो व्याकरणिक शब्द-भेद (संज्ञा, सर्वनाम आदि) भी अभीष्ट नहीं है। 'शब्द-भेद' के लिए विविध-शास्त्रानुसार एक तालिका निम्न प्रकार प्रस्तुत की जा सकती है, जिसमें इन विविध भेदों के संकेत दिये गए हैं[2] -

1. पाण्डुलिपिविज्ञान : डॉ. सत्येन्द्र, पृ. 311
2. पाण्डुलिपिविज्ञान : डॉ. सत्येन्द्र, पृ. 311

नाम शास्त्र	विषय	शब्द-भेद
1. व्याकरण	रचना एवं गठन	1. रूढ़, 2. यौगिक, 3. योगरूढ़
2. व्याकरण-भाषाविज्ञान	बनावट	1. समास शब्द, 2. पुनरुक्त शब्द, 3. अनुकरणमूलक, 4. अनर्गल, 5. अनुवादयुग्म शब्द, 6. प्रतिध्वन्यात्मक शब्द
3. व्याकरण+ भाषाविज्ञान	शब्द-विकास	1. तत्सम, 2. अर्द्धतत्सम, 3. तद्भव 4. देशज, 5. विदेशी
4. व्याकरण : कोटिगत	कोटिगत (शब्दभेद)	(क) नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात (ख) संज्ञा, सर्वनाम, क्रिया, विशेषण क्रियाविशेषण, समुच्चयबोधक, संबंधसूचक, विस्मयादिबोधक
5. पारिभाषिक	प्रयोगसीमा के आधार पर	काव्यशास्त्रीय, संगीत, सौन्दर्य, ज्योतिष-शास्त्रीय आदि विषय संबंधी शब्द
6. अर्थ-विज्ञान	—	पर्यायवाची (समानार्थी), एकार्थवाची अनेकार्थवाची, भिन्नार्थवाची (श्लेषार्थी), समानरूपी आदि।
7. काव्यशास्त्र	—	वाचक, लक्षक एवं व्यंजक

किन्तु; पाण्डुलिपिविज्ञान में पाण्डुलिपि में प्रयुक्त शब्द-रूपों के अर्थ ही विचार होता है। इस प्रकार के शब्द ग्रंथ-रचना में निश्चय ही सार्थक होते हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि 'अर्थ का आधार शब्द-रूप है।' शब्द-रूप में मूलाधार 'अक्षरयोग' है और 'अक्षरयोग' लिपिकर्ता या लेखक द्वारा लिखे गये होते हैं। अब यदि किसी लेखक या लिपिकर्ता ने 'मानुस हों तो' शब्द-रूप लिखा है तो इसका अर्थ होगा 'यदि मैं मनुष्य होऊँ' और यदि 'मानु सहों तो' शब्द-रूप लिखा है तो अर्थ होगा 'यदि मैं मान (रूठना) सहन करूँ तो'। इससे स्पष्ट है कि अक्षरावली के एक होने के बावजूद लिपिकर्ता के द्वारा शब्द-रूप खड़े करने के कारण अर्थ-भिन्नता उत्पन्न हुई। अतः कहा जा सकता

है कि अर्थ-ग्रहण शब्द-रूप पर निर्भर करता है। अर्थ का आधार शब्द-रूप ही है।

2. पाण्डुलिपि में प्राप्त शब्द-भेद

पाण्डुलिपि के प्राप्त होने पर सर्वप्रथम हमें उसकी लिपि को समझना होता है और भाषा की समस्या से जूझना होता है। इन दोनों प्रकार की समस्याओं का हल शब्द-रूपों में निहित रहता है। किसी भी पाण्डुलिपि में निम्नलिखित प्रकार के शब्द-भेद हो सकते हैं -

1. मिलित शब्द : जब किसी पाण्डुलिपि में एक ही पंक्ति में पूरा का पूरा वाक्य लिखा मिलता है तब मिलित शब्दों की समस्या आती है। इसमें शब्द अपना रूप अलग नहीं रखते। एक दूसरे से मिलते हुए पूरी पंक्ति को एक ही शब्द बना देते हैं। प्राचीन परम्परा के पाण्डुलिपि लेखक इसी प्रकार लिखते थे। जैसे -

'मानुसहोंतोवहींरसखानवसौब्रजगोकुलगांवकेगुवारनि'।

इस एक ही पंक्ति में एक साथ लिखे शब्दों में से पाठक अपनी सूझ-बूझ या समझ के अनुसार शब्द-रूप खड़े करता है। जैसे - (1) मानुस हों तो वहीं रसखान (2) मानु सहों तोव हींर सखा न आदि।

इससे स्पष्ट है कि अपने द्वारा खड़े किए गये शब्द-रूपों का अर्थ भी अपनी ही तरह निकाला जायेगा।

वस्तुत: मिलित शब्दों में पहली समस्या शब्द के यथार्थ रूप को, जो कवि को अभिप्रेत शब्दावली हो - को निर्दिष्ट करना है; क्योंकि ठीक शब्दरूपों को न पकड़ पाने के कारण अर्थ में कठिनाई आयेगी। इस संबंध में डॉ. सत्येन्द्र कहते हैं - "नवीन कवि कृत 'प्रबोध सुधासर' के छन्द 901 के एक चरण में 'शब्द-रूप' यों ग्रहण किये गये हैं - 'तू तौ पूजै आँखतले वह तौ नखत ले' - शब्द-रूप देने वाले को पूरे संदर्भ का ध्यान न रहा। मिलित शब्दावली से ये शब्द-रूप यों ग्रहण किये जाने चाहिए थे - 'तू तौ पूजै आखत ले' आदि। 'आँख तले' से अर्थ नहीं मिलता। आखत: अक्षत: चावल से अर्थ ठीक बनता है।"[1]

---

1. पाण्डुलिपिविज्ञान, पृ. 315

2. विकृत-शब्द : पाण्डुलिपि में विकृत-शब्दों की भी एक समस्या रहती है जिसके कारण अभीष्ट अर्थ तक पहुँचना कठिन रहता है। यह तो प्राय: निश्चित ही है कि प्रतिलिपिकार मूलपाठ की यथावत् प्रतिलिपि नहीं कर सकता। इसके अनेक कारण हो सकते हैं। इसलिए प्रतिलिपि में कुछ पाठ-संबंधी विकृतियाँ आ जाना स्वाभाविक है। इन विकृतियों की परिभाषा इस प्रकार दी जा सकती है : उन समस्त पाठों को विकृत पाठ की संज्ञा दी जायेगी जिनके मूल लेखक द्वारा लिखे होने की किसी प्रकार की संभावना नहीं की जा सकती और जो लेखक की भाषा, शैली और विचारधारा से पूर्णतया विपरीत पड़ते हैं।[1] इस प्रकार विकृत-पाठ में विकृत-शब्दों का बड़ा भारी योगदान रहता है। ये विकृत-शब्द निम्न प्रकार हो सकते हैं -

(1) आकार विकृति : शब्द की मात्रा, अक्षर आदि विकृत होने के कारण शब्द में आकार विकृति हुआ करती है। इस प्रकार विकृत शब्द छ: प्रकार के होते हैं -

(क) मात्रा-विकृत : लघु मात्रा की जगह दीर्घ या दीर्घ मात्रा की जगह लघु मात्रा लिखकर यह विकृति लाई जाती है। जैसे - रात्रि > रात्री। कभी-कभी भ्रमवश किसी अन्य मात्रा की जगह अन्य मात्रा लिख दी जाती है, जैसे धौरै > धोरै (ई > ओ)। 'मात्रा विकृति' के रूप कई कारणों से बनते हैं; जैसे - मात्रा लगाना ही भूल जायें, दो मात्राओं में अभेद स्थापित हो जाये, स्मृति-भ्रम हो, या अनवधानता के कारण, जैसे - 'विसंठुलयं' के स्थान पर 'विसुंठल्यं' लिखना।

(ख) अक्षर-विकृत : अक्षर-विकृत शब्द वे शब्द होते हैं जो ऐसे लिखे गये हों कि जिन्हें पाठक कुछ का कुछ पढ़ लेता हो। इस प्रकार के कुछ उदाहरण निम्न प्रकार हैं -

क > फ	त > ट
ष > प, ब	थ > छ, ब
ग > म	द > व

1. परिषद् पत्रिका, वर्ष 3, अंक 4, पृ. 48, पटना, डॉ. विमलेश कान्ति वर्मा का लेख - 'पाठ विकृतियाँ और पाठ-संबंधी निर्धारण में उनका महत्व।'

ग > भ	ध > घ
घ > ध	न > त, ब, र, म,
घ > ब	य > म
ख > स्व	फ > क
च > व, ब	भ > म, ल
छ > ब, घ	र > द, ट
ज > त	य > म, थ
झ > ल, ऊ	व > न
ट > ढ, द	
ड > उ, द, क	स > म
ढ > द	ह > ड

(ग) विभक्त-अक्षर विकृत शब्द : ऐसे शब्द जिन्हें तोड़कर तद्भव रूप बनाकर पढ़ा जाये वे इसी कोटि में आते हैं। जैसे - कर्म को विभक्त करके 'करम', ऊर्ध्व को 'ऊरध' आत्म को आतम, अध्यात्म को अध्यातम आदि।

(घ) युक्ताक्षर-विकृति युक्त : इस संबंध में डॉ. सत्येन्द्रजी ने विस्तार से लिखा है।[1] उनके अनुसार जब शब्द परस्पर विभक्त न होकर मुक्त हो और तब उनमें से किसी में भी यदि विकार आ जाता है तो उसे युक्ताक्षर-विकृति युक्त शब्द कहेंगे। जैसे - महाजन्हि को महजन्हि, ऊलंबी को उक्कंबी और उद्धरज्यो जी को उद्धरज्य जी, शांडिल्य को सांडिल्ल पढ़ा जाये वहाँ यह विकृति ही है।

(ङ) घसीटाक्षर विकृति युक्त शब्द : त्वरावश लिखी जानेवाली पाण्डुलिपि घसीटाक्षरों में लिखी जाती है। घसीट में लिखी जानेवाली पाण्डुलिपियों में विकृति आना भी स्वाभाविक है। प्राचीन राज-काज के पत्रादि घसीट-अक्षरों में लिखे जाने की एक परम्परा-सी थी, जिसे समझने के लिए निरन्तर अभ्यास की आवश्यकता होती थी। प्राय: विशेष-विशेष लेखकों के घसीट में लिखे लेख को पढ़ने का भी अभ्यास करवाया जाता था। घसीटाक्षरों में लिखी पाण्डुलिपि को नहीं समझने के कारण इस प्रकार की विकृतियुक्त शब्दों के कारण अर्थ को समझने में बहुत कठिनाई होती थी।

1. पाण्डुलिपिविज्ञान, पृ. 320

(च) अलंकरण निर्भर विकृति युक्त : लेखन में कलात्मकता दिखाने के लिए अलंकरण निर्भर विकृति युक्त शब्दों का प्रयोग देखने को मिलता है। अलंकरण की इस प्रवृत्ति के कारण एक ही अक्षर को लेखक विभिन्न कलात्मक रूपों में लिखता है जिसके कारण अक्षर रूपों के साथ शब्द रूप भी बदल जाते हैं। देवनागरी लिपि में 'अलंकरण' की प्रवृत्ति ई.पू. प्रथम शती से ही दिखाई देती है। इस संबंध में डॉ. अहमद हसन दानी ने 'इण्डियन पेलियोग्राफी' में इस पर काफी विस्तार से लिखा है। डॉ. सत्येन्द्र ने उनके 'अलंकृत वर्णमाला' का एक चित्र भी उद्धृत किया है।[1] अत: अलंकरण के प्रभाव को समझकर ही 'शब्द-रूप' का निर्णय करना उचित रहेगा।

3. नवरूपाक्षर युक्त शब्द : जब लिपिकार प्रचलित अक्षर-रूप के अतिरिक्त कोई नया एवं अनोखा रूप लिखता है, तब इस नवरूपाक्षर युक्त शब्द-विकृति की अधिक गुंजाइश रहती है।

4. लुप्ताक्षरी शब्द : ध्वनियों की तरह अक्षर-विकृति में लोप, आगम और विपर्यय की स्थिति देखी जा सकती है। पाण्डुलिपियों में ऐसे शब्द देखने को मिलते हैं, जिनके कोई-कोई अक्षर भ्रमवश या त्वरावश छूट जाते हैं। ऐसे शब्दों का अर्थ प्रसंग के अनुसार शब्द को समझकर लुप्ताक्षर की पूर्ति करके ही समझा जा सकता है। विद्यापति की कीर्तिलता में 'बादशाह जे वीराहिम साही' लिखा है। इसमें 'इवराहिम शाह' का ही 'विराहिम शाह' हो गया है। इसी प्रकार संदेशरासक में 'संझासिय' में 'सज्झसिय' का 'ज' लुप्त है।

5. आगमाक्षरी : लिपिकर्ता की भूल से पाण्डुलिपि में शब्दों में एक-दो अक्षरों का आगम भी हो जाता है, जिससे शब्द-रूप का अर्थ समझने में कठिनाई होती है।

6. विपर्याक्षरी शब्द : मात्रा की तरह वर्ण-विपर्यय भी होता है। इसमें असावधानीवश आगे का अक्षर पीछे या पीछे का अक्षर आगे लिखा जाता है।

7. संकेताक्षरी शब्द : पाण्डुलिपि में संकेताक्षरी शब्दों का प्रयोग भी मिलता है। लम्बे या बड़े शब्दों को जब उसके छोटे अंश के द्वारा दर्शाया जाता है तो

1. पाण्डुलिपिविज्ञान, पृ. 323

यह निरर्थक-सा छोटा अक्षर-संकेत पूरे शब्द के रूप में ग्राह्य होता है। जैसे - 'सम्बत्सर' के लिए 'सं.' 'स', समु. आदि; हेमन्त के लिए 'हे' या 'हेम'; वर्ष के लिए 'व' या 'वा'; अब्दुल के लिए 'अद्' आदि संकेतों का प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार पाण्डुलिपि के अध्येता अपने लिए ऐसी संकेताक्षरी शब्दों की सूची बना सकता है।

8. विशिष्टार्थी शब्द : पाण्डुलिपिविज्ञान में विशिष्टार्थी शब्दों का अत्यधिक महत्व है। यह रूपगत नहीं है। विशिष्ट शब्दों का विशिष्ट अर्थ जाने बिना हम यथार्थ अर्थ तक नहीं पहुँच सकते। केवल अभिधार्थ करते हुए अर्थाभास का अनुभव करते हैं। बिना उन शब्दों का अर्थ समझे खींचतान कर अर्थ निकालना होता है। ऐसे विशिष्टार्थी शब्दों के सम्बन्ध में डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल ने 'कीर्तिलता' के संदर्भ में अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। एक उदाहरण प्रस्तुत है -

मषदूम नरावइ दोम जञो होथ ददस दस नारओ।[1]

इस पंक्ति के सभी शब्द विशिष्टार्थी हैं, उनके यथार्थ अर्थों से अपरिचित व्यक्ति अर्थ निकालने में कई तरह की खींचतान करते हैं; किन्तु डॉ. अग्रवाल का कहना है कि "इस एक पंक्ति में सात शब्द पारिभाषिक प्राकृत और फारसी के हैं।" इनके विशिष्ट अर्थ निम्न प्रकार से बताये गये हैं -

1. मषदूम/मखदूम - भूत-प्रेत साधक मुसलमानी धर्म-गुरु
2. नरावइ - ओसविया - अर्थात् जो नरक के जीवों या प्रेतात्माओं का अधिपति है।
3. दोष - यातना देना।
4. हाथ - शीघ्र
5. ददस - हदस (अरबी.) प्रेतात्माओं को अँगूठी के नग में दिखाने की प्रक्रिया।
6. दस - दिखाता है
7. णारओ - नरक के जीव, प्रेतात्माएँ।[2]

1. कीर्तिलता : डॉ. वासुदेव अग्रवाल, 2/190, पृ. 108
2. पाण्डुलिपिविज्ञान : डॉ. सत्येन्द्र, पृ. 325

इसी प्रकार शिलालेखों एवं अभिलेखों में भी विशिष्टार्थी शब्दों का प्रयोग मिलता है। इस संबंध में डॉ. डी.सी. सरकार के 'इण्डियन एयोग्राफी' ग्रंथ के आठवें अध्ययन को देखा जा सकता है। अभिप्राय कहने का यह है कि विशिष्टार्थी शब्दों के पूर्वापर प्रसंग को भी ध्यान में रखकर अर्थ किया जाना चाहिए।

9. संख्यावाचक शब्द : पाण्डुलिपि में आये अनेक शब्द संख्यावाची होते हैं। उनसे जिस संख्या का बोध होता है, वही अर्थ ग्रहण करना होता है। ऐसे शब्दों के अभिधार्थ से काम नहीं चलता। इस प्रकार के शब्दों की सूचना पिछले पृष्ठों में अन्यत्र दी जा चुकी है। जैसे - रजनीस = चन्द्रमा - 1, वेद - 4, रस - 6 संख्यावाची शब्द ही हैं।

10. वर्तनी-च्युत शब्द : कभी-कभी पाण्डुलिपि में ऐसे शब्दों का प्रयोग भी देखने को मिलता है जब लेखक या लिपिकर्ता द्वारा वर्तनी की भूल हो गई हो। इस वर्तनी-च्युति के कारण 'स' का 'श' उ का ऊ आदि रूप लिखे मिलते हैं। जैसे - सलिल-शलिल, तरु-तरू आदि। वर्तनी-च्युति के कारण मात्रा-विकृति एवं शब्द-विकृति स्वाभाविक है।

11. स्थापन्न शब्द (भ्रमात् अथवा अन्यथा) : जब पाण्डुलिपि में प्रयुक्त कोई शब्द पाठक या अध्येता की समझ से बाहर होता है तब वह अपनी सुविधार्थ, उस शब्द के स्थान पर नया शब्द रखकर स्वैच्छित अर्थ निकाल लेता है। ऐसे शब्द को ही स्थानापन्न, भ्रमात् या अन्यथा शब्द कहा जाता है। इस प्रकार के शब्दों के लिए पाण्डुलिपि वैज्ञानिक को ध्यान रखना आवश्यक है।

12. अपरिचित शब्द : प्राय: ऐसा भी होता है कि जब अतिप्राचीन पाण्डुलिपि में व्यवहृत शब्द पाण्डुलिपि वैज्ञानिक को अपरिचित लगता हो। यह स्वाभाविक भी है; क्योंकि हजारों वर्ष पूर्व लिपिकृत पाण्डुलिपि में व्यवहृत शब्द अब प्रचलित नहीं रहा हो। केवल इसी कारण से एक पाण्डुलिपिवेत्ता उसकी उपेक्षा नहीं कर सकता। उसे चाहिए कि उस अपरिचित शब्द का तत्कालीन स्रोतों से अनुसंधान कर सही शब्द एवं अर्थ को प्रस्तुत करें। अपरिचित शब्दों में कुछ शब्द विशिष्टार्थ शब्द या पारिभाषिक शब्द भी हो सकते हैं। हमें इस ओर भी ध्यान देना अपेक्षित है। इसके साथ ही अपरिचित शब्द रूपों में ऐसे शब्द भी आ सकते हैं, जिनके

सामान्यार्थ से हम परिचित हों, किन्तु विष्टार्थ से नहीं। वे शब्द किसी क्षेत्र-विशेष के भी हो सकते हैं, जिस क्षेत्र-विशेष में वह पाण्डुलिपि लिपिबद्ध की गई हो। प्राचीन काव्यों में ऐसे विशिष्ठ शब्द पर्याप्त मात्रा में प्राप्त हो सकते हैं।

इस प्रकार के 'अपरिचित शब्द' की दृष्टि से एक उदाहरण देखिए -

हहहि हट्ट भमन्तओ दूअओ राजकुमार।
दिट्ठि कुतूहल कज्ज रस तो इट्ठ दरबार॥ 215॥ - कीर्तिलता, 2/33

इस दोहे में प्रयुक्त 'कज्ज रस' विशिष्टार्थक है। अत: यह अपरिचित माना जा सकता है। इस दोहे का प्रसंग दरबारी है अत: इसका अर्थ भी उसी संदर्भ में ग्रहण करना होगा।

कज्जन सं. कार्य > प्रा. कज्ज अर्थात् 'अदालती फरियाद' या न्यायालय या राजा के सामने फरियाद। रस - सं. रस > प्रा. रस, अर्थात् चिल्लाकर कहना। 'कज्ज रस' का अर्थ हुआ 'अपनी फरियाद कहने के लिए'। इस प्रकार 'कज्ज' और 'रस' दोनों परिचित शब्द होने के बावजूद प्रसंग विशेष से अर्थ तक पहुँचने के लिए अपरिचित हैं।[1] इसी प्रकार के अनेक शब्दों की ओर डॉ. किशोरीलाल ने भी संकेत किया है।[2]

इस प्रकार 'शब्द' अर्थ तक पहुँचने का सोपान है। यथार्थ अर्थ शब्द की अपेक्षा सार्थक शब्दावली की सार्थक वाक्य योजना में निहित रहता है। वस्तुत: किसी भी कृति का सृजन किसी अर्थ को अभिव्यक्त करने के लिए होता है। यदि शब्द अपने ठीक रूप में ग्रहण नहीं किया गया तो अर्थ भी ठीक नहीं देगा। भर्तृहरि के 'वाक्य प्रदीप' में कहा है - ज्ञान जैसे अपने को और अपने ज्ञेय को प्रकाशित करता है उसी प्रकार शब्द भी अपने स्वरूप को तथा अपने अर्थ को प्रकाशित करता है। सच तो यह है कि अर्थ से ही शब्द की सार्थकता है। वह वाक्य में जो स्थान रखता है, उसी कारण से उसे वह अर्थ मिलता है।

3. अर्थ-समस्या

पाण्डुलिपि-अध्येता के लिए शब्द की समस्या की तरह अर्थ-समस्या भी अत्यधिक महत्वपूर्ण है। उस समस्या के निम्नलिखित कारण हैं -

1. कीर्तिलता : डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ. 110
2. सम्मेलन पत्रिका, भाग 56, संख्या 2-3, पृ. 181-182

(1) मिलित शब्दावली में से उचित शब्द-रूप का न बनना - शब्द-रूप की ठीक पहचान करने में अर्थ भी सहायक होता है। मिलित शब्दावली में से ठीक शब्दरूप पर पहुँचने पर ठीक अर्थ पाना भी आवश्यक है। लेकिन जब मिलित शब्दावली में से उचित शब्द-रूप नहीं बन पाता है तो अर्थ की समस्या बड़ी जटिल हो जाती है। इस संबंध में डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल एक उद्धरण प्रस्तुत करते हुए कहते हैं -

'भेअ करन्ता मम उवइ दुज्जण वैरिण होइ'। 1/22

''बाबूरामजी ने 'मेअक हन्ता मुज्झुअई' पाठ रखा है जो 'क' प्रति का है। अक्षरों को गलत जोड़ देने से यहाँ उन्होंने अर्थ किया है - यदि दुर्जन मुझे काट डाले अथवा मार डाले तो भी बैरी नहीं। उन्होंने टिप्पणी में 'भेअ कहन्ता' देते हुए अर्थ दिया है - 'यदि दुर्जन मेरा भेद कहदे'। शिव प्रसाद सिंह ने इसे ही अपनाया है। वास्तव में 'अ' प्रति से इसके मूलपाठ का उद्धार होता है। मूल का अर्थ है - मर्म का भेद करता हुआ दुर्जन पास आवे तो भी शत्रु नहीं होगा। उवई < प्रा. - अवह. धातु, जिसका अर्थ पास आना है।''[1] अग्रवाल साहब के उक्त कथन पर टिप्पणी करते हुए डॉ. सत्येन्द्र कहते हैं - ''इस विवेचन से एक ओर तो यह स्पष्ट होता है कि 'मिलित शब्दावली' में से शब्द-रूप बनाते समय अक्षरों को गलत जोड़ देने से गलत शब्द बन जाता है। भेअ कहन्ता/करन्ता, में से 'भेअक' बनाने में 'कहन्ता' या 'करन्ता' के 'क' को भेअ से जोड़कर 'भेअक' बना दिया है। यह गलत शब्द बन गया। इससे अर्थ गलत हो गया, उलझ गया और समस्या बनी रह गयी।''[2]

(2) किसी अपरिचित शब्द को परिचित शब्दों की कोटि में लाने की असमर्थता : अर्थ-समस्या का दूसरा कारण किसी अपरिचित शब्द को परिचित शब्दों की कोटि में लाने की असमर्थता है। इसका उदाहरण उपर्युक्त 'कीर्तिलता' के उदाहरण में प्रयुक्त 'उवइ' शब्द है। यह एक अपरिचित शब्द है जिसे पूर्व टीकाकारों ने ग्रहण नहीं किया। 'उवइ' प्राकृत-अवहट्ठ का रूपान्तर था, जिसका अर्थ पास आना है।

1. कीर्तिलता : प्रा. वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ. 19-20
2. पाण्डुलिपिविज्ञान, पृ. 331

एक अन्य उदाहरण 'संदेश-रासक' में प्रयुक्त 'आरद्द' शब्द है। डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी कहते हैं कि 'आरद्द' शब्द का यह अर्थ (अर्थात् जुलाहा) अज्ञातपूर्व अवश्य है; क्योंकि कोषों में कहीं भी 'आरद्द' का अर्थ जुलाहा नहीं मिलता। अत: "किसी शब्द के अन्य ग्रंथों में न मिलने मात्र से उसके अर्थ के विषय में शंका उठाना उचित नहीं है। सम्भव है किसी अधिक जानकार को वह शब्द अन्यत्र मिल भी जाए।"[1] अत: कहा जा सकता है कि 'आरद्द' शब्द पूर्णत: अपरिचित शब्द है।

(3) व्याकरणिक दृष्टि से अर्थ-समस्या : कई बार पाण्डुलिपि-वैज्ञानिक के व्याकरण पर ध्यान नहीं देने के कारण भी अर्थ-समस्या जटिल हो जाती है। उदाहरण के लिए 'संदेश-रासक' में ही अन्यत्र 'मीरसेणस्स' शब्द का प्रयोग हुआ है, जिसकी टीकाकारों ने 'मीरसेनाख्य' रूप में व्याख्या की है। इस संबंध में डॉ. द्विवेदी कहते हैं - " 'आरद्दो मीरसेणस्स' का अर्थ 'आरद्दो मीरसेनाख्य' नहीं हो सकता। 'मीरसेणस्स' षष्ठ्यन्त पद है, उसकी व्याख्या 'मीर सेनाख्य:' प्रथमांत पद के रूप में नहीं होनी चाहिए।"[2] इससे स्पष्ट है टीकाकारों के व्याकरणरूप पर ध्यान नहीं देने के कारण यह अर्थ की समस्या खड़ी हुई। अत: अर्थ की दृष्टि से व्याकरण के प्रयोगों पर ध्यान देना चाहिए।

(4) भाषाविज्ञान की दृष्टि से अर्थ-समस्या : व्याकरणिक अर्थ-समस्या की तरह भाषाविज्ञान की दृष्टि से भी अर्थ की समस्या उठती है; क्योंकि शब्द के जिस रूप को अर्थ हेतु स्वीकार किया गया है वह व्याकरणसम्मत होने के साथ भाषाविज्ञान द्वारा भी सम्मत होना चाहिए, तभी ठीक अर्थ मिल सकता है। 'संदेश-रासक' का एक शब्द है 'अद्धड्डीणउ'। टिप्पणकार ने इसे 'अर्द्धोद्विग्न' (आधा उद्विग्न) तथा अवचूरिकाकार ने 'अध्वोद्विग्न' (रास्ता चलने से उद्विग्न) मान कर अर्थ किया है; किन्तु डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी का कहना है कि 'उद्विग्न' का रूपान्तर 'उव्विन्न' होता है 'उड्डीण' नहीं। उड्डीण भाषाविज्ञान की दृष्टि से 'उद्विग्न' का रूपान्तर नहीं हो सकता। 'उड्डीण' का अर्थ 'उड़ता हुआ' होता है।[3] अत: भाषाविज्ञान की दृष्टि से भी अर्थ-समस्या पर विचार करना चाहिए।

1. संदेश-रासक, पृ. 11
2. संदेश-रासक, पृ. 12
3. संदेश-रासक, पृ. 21

(5) बाह्य-साम्य से अर्थ लेने से समस्या : जब किसी शब्द-रूप का 'बाह्य साम्य' देखकर अर्थ कर बैठते हैं, तब यह समस्या उठती है। इस संदर्भ में डॉ. सत्येन्द्र कहते हैं कि "संदेश-रासक में एक शब्द है 'कोसिल्लि' इसका बाह्य-साम्य 'कुशल' से मिलता है, अत: टिप्पणक और अवचूरिका में (श. 22) इसका अर्थ 'कुशलेन अर्थात् कुशलतापूर्वक' कर दिया गया। पर 'देशीनाममाला' में इस शब्द के यथार्थ अर्थ को ग्रहण करने का प्रयत्न नहीं किया। प्राभृतम् अर्थ ठीक है, यह डॉ. द्विवेदी का अभिमत है।"[1]

(6) छन्दानुकूलता से अर्थ-समस्या : कभी-कभी कवि छन्द की दृष्टि से मात्राएँ घटा-बढ़ा देते हैं। इससे भी शब्द-रूप का अर्थ-ग्रहण करने में समस्या आ जाती है।

(7) देश-काल भेद से शब्दार्थ भेद की समस्या : प्राचीन पाण्डुलिपियों में जो काव्य-शास्त्र संबंधी होती हैं, उनमें प्राय: देश-काल भेद से शब्दार्थ-भेद की समस्या आया करती है। एक ही शब्द के कोषगत अनेक अर्थ होते हैं, किन्तु एक रचना में एक समय एक ही अर्थ-ग्रहण किया जा सकता है। प्राचीन कवियों द्वारा एक ही शब्द विभिन्न प्रदेशों में विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त किये गए हैं। अत: अर्थ-ग्रहण के लिए ग्रंथकार और ग्रंथ के देश एवं काल का भी ध्यान रखना चाहिए।

इस प्रकार पाण्डुलिपिविज्ञानार्थी के लिए जिस सामान्यज्ञान की अपेक्षा की जाती है, उसे ध्यान में रखकर यहाँ अर्थ-समस्या के समाधान की ओर किंचित् इंगित मात्र किया गया है। ❑

1. पाण्डुलिपिविज्ञान, पृ. 332

अध्याय 8

पाण्डुलिपि-संरक्षण (रख-रखाव)

1. आवश्यकता एवं महत्त्व

वर्तमानकाल में पाण्डुलिपियों की सुरक्षा का दायित्व बढ़ गया है। हमारे पूर्वजों की पीढ़ियों की इस सांस्कृतिक धरोहर को यदि सम्हालकर नहीं रखा तो आने वाली पीढ़ियाँ हमें क्षमा नहीं करेंगी। पाण्डुलिपियों की अन्य समस्याओं की तरह आज उनकी सुरक्षा या रख-रखाव की समस्या भी कम चिन्तनीय नहीं है। पाण्डुलिपियों के प्रकारों को ध्यान में रखते हुए वे ताड़पत्र, भोजपत्र, चमड़ा, कपड़ा, कागज, लकड़ी, रेशम, प्रस्तर, मिट्टी, सोना, चाँदी, ताँबा, पीतल, काँसा, लोहा, हाथीदाँत, शंख, सीपी आदि किसी लिप्यासन पर लिपिबद्ध हो सकती हैं। इसलिए प्रत्येक प्रकार की पाण्डुलिपि पर भी रख-रखाव या सुरक्षा की दृष्टि से अलग-अलग देख-रेख की विधियाँ अपनानी पड़ेंगी।

पिछले दिनों एक दैनिक समाचारपत्र में यह पढ़कर हैरानी हुई कि - "सिडनी, (रायटर) किताबों के रखरखाव के लिए धन नहीं होने के कारण आस्ट्रेलिया के एक विश्वविद्यालय ने हजारों पुस्तकों को दफन कर दिया। पश्चिम सिडनी विश्वविद्यालय के प्रवक्ता स्टीवन मैचेट ने आज बताया कि विश्वविद्यालय को अभी पता नहीं चल पाया है कि इस हरकत के पीछे कौन जिम्मेवार था। विश्वविद्यालय की ये हजारों किताबें 1996 में विश्वविद्यालय के मैदान में दफना दी गईं। यह पता नहीं चल पाया है कि किस मूर्ख ने यह कांड करवाया। समाचारपत्र 'द डेली टेलीग्राफ' के अनुसार दस हजार किताबें दफनाई गई थीं।"[1] इससे यह तो पता नहीं चलता कि किन परिस्थितियों में ऐसा हुआ। धन की कमी एक कारण हो सकता है। परन्तु कभी-कभी प्राकृतिक कारणों से भी पाण्डुलिपियाँ नष्ट हो जाया करती हैं।" दक्षिण की अधिक ऊष्ण हवा में

1. पंजाब केशरी, दिल्ली, 22 मार्च, 2001

ताड़पत्र की पुस्तकें उतने अधिक समय तक रह नहीं सकतीं जितनी कि नेपाल आदि शीत देशों में रह सकती हैं।''[1] यही कारण है कि उत्तरी नेपाल में पाण्डुलिपियों की खोज की गई तो प्राचीन ताड़पत्रीय पाण्डुलिपियाँ अधिक अच्छी हालत में प्राप्त हुईं। यद्यपि ताड़पत्रों पर प्राचीन ग्रंथ बहुत कम मिलते हैं, फिर भी दूसरी से 10वीं शदी तक के छः ग्रंथ या उनके अंश उपलब्ध हुए हैं। इस प्रकार 11वीं शती के पूर्व के ग्रंथ बहुत कम मिलते हैं।

कमोबेश यही स्थिति भोजपत्रीय पाण्डुलिपियों की है। काश्मीर से प्राप्त चार भोजपत्रीय पाण्डुलिपियाँ दूसरी से आठवीं शदी तक की हैं। वे भी इसलिए सुरक्षित रहीं कि उनको स्तूपों के भीतर पत्थरों के मध्य सुरक्षित रखा गया था। इस संबंध में डॉ. ओझाजी कहते हैं कि ''ये पुस्तकें स्तूपों के भीतर रहने या पत्थरों के बीच गढ़े रहने से ही उनके दीर्घकाल तक बच पायी हैं, परन्तु खुले वातावरण में रहने वाले भूर्जपत्र के ग्रंथ ई. स. की 15वीं शताब्दी से पूर्व के नहीं मिलते, जिसका कारण यही है कि भूर्जपत्र, ताड़पत्र या कागज अधिक टिकाऊ नहीं होता।''[2] अर्थात् 4-5 सौ साल से अधिक पुराने ग्रंथ नहीं मिलते। यही हालत कागज के ग्रंथों की भी है। क्योंकि ''भारतवर्ष के जलवायु में कागज बहुत अधिक काल तक नहीं रह सकता।''[3] कहने का अभिप्राय यह है कि ताड़पत्रीय, भूर्जपत्रीय, कागजीय लिप्यासन पर लिखित रचना बहुत नीचे, गहरे, दबाकर रखने से ही दीर्घजीवी हो सकती है। इसलिए सुरक्षात्मक रख-रखाव की दृष्टि से इस ओर ध्यान देना चाहिए।

उपर्युक्त प्राकृतिक कारणों के अतिरिक्त भौतिक कारण भी रहे हैं जिनसे प्राचीन पाण्डुलिपि ग्रंथागार सुरक्षित नहीं रहे। कहते हैं सिकन्दर के आक्रमण के समय तक्षशिला विश्वविद्यालय का पुस्तकालय भी नष्ट कर दिया गया था। वहाँ से जो विद्वान जान बचाकर जितनी पाण्डुलिपियाँ लादकर ले जा सकता था वे तिब्बत में जाकर सुरक्षित रह पाईं। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने प्रथम बार उनका उद्धार किया था। इसी प्रकार भारत में अनेक विदेशी आक्रान्ता आए जिन्होंने मंदिरों, मठों, बिहारों, पुस्तकालयों, ग्रंथागारों, नगरों आदि को नष्ट-

1. भारतीय प्राचीन लिपिमाला : डॉ. गौरीशंकर हीराचंद ओझा, पृ. 143
2. भारतीय प्राचीन लिपिमाला, पृ. 144
3. भारतीय प्राचीन लिपिमाला, पृ. 145

भ्रष्ट कर दिया था या आग लगा कर जला दिया था। कुछ बाद की साम्प्रदायिक वैमनश्यता के कारण भी ग्रंथों का विनाश हुआ। अलाउद्दीन खिलजी के लिए तो कर्नल टॉड कहते हैं - "सब जानते हैं कि खून के प्यासे अल्ला (अलाउद्दीन) ने दीवारों को तोड़कर ही दम नहीं ले लिया था वरन् मन्दिरों का बहुत-सा माल नींवों में गड़वा दिया, महल खड़े किये और अपनी विजय के अन्तिम चिह्नस्वरूप उन स्थलों पर गधों से हल चलवा दिया, जहाँ वे मन्दिर खड़े थे।"[1]

यही कारण था कि प्राचीनकाल में ग्रंथों की सुरक्षा एवं रख-रखाव को ध्यान में रखते हुए इन ग्रंथागारों को भण्डार तहखानों में रखा जाता था। ताकि किसी आक्रमणकारी की लालचभरी दृष्टि वहाँ तक नहीं जाये। अणहिलवाड़ा के प्राचीन ग्रंथागार इसी कारण अलाउद्दीन की दृष्टि से बच गये थे। राजस्थान में भी ऐसे तहखानों में ही ग्रंथों को सुरक्षित रखने की प्राचीन परम्परा रही है। जैसलेर जैसे रेगिस्तान के इलाके में ग्रंथों का भण्डारण करने के पीछे भी यही मंशा रही थी कि किसी भी आक्रमणकारी की नजर वहाँ तक न जाये। मंदिरों में भी भूगर्भ कक्ष बनाए जाते थे, जहाँ आपातकाल में इन ग्रंथों को छिपाकर रखा जाता था। इस प्रकार के तहखाने सांगानेर, आमेर, नागौर, जैसलमेर, अजमेर, फतेहपुर, दूनी, मालपुरा आदि स्थानों पर भी मिलते हैं जहाँ प्राचीन जैन-साहित्य की पाण्डुलिपियाँ सुरक्षित हैं। वस्तुत: अत्यधिक असुरक्षा के कारण ही पाण्डुलिपि ग्रंथागारों को सामान्य पहुँच से दूर स्थापित किया जाता था। इस प्रकार के ग्रंथ भण्डारों के अन्यत्र भी उल्लेख मिलते हैं। डॉ. सत्येन्द्र कहते हैं, "डॉ. रघुवीर ने मध्य एशिया में तुनह्वॉङ् स्थान की यात्रा की थी। यह स्थान बहुत दूर रेगिस्तान से घिरा हुआ है। यहाँ पहाड़ी में खोदी हुई 476 से ऊपर गुफाएँ हैं जिनमें अजन्ता जैसी चित्रकारी है, और मूर्तियाँ हैं। यहाँ पर एक बंद कमरे में, जिसमें द्वार तक नहीं था, हजारों पाण्डुलिपियाँ बंद थीं, आकस्मिक रूप से उनका पता चला। एक बार नदी में बाढ़ आ गई, पानी ऊपर चढ़ आया और उसने उस कक्ष की दीवार में सेंध कर दी जिसमें किताबें बंद थीं। पुजारी ने ईंटों को खिसका कर पुस्तकों का ढेर देखा। कुछ पुस्तकें उसने निकालीं। उनसे विश्व के पुराशास्त्रियों में हलचल मच गई। सर औरील स्टाइन दौड़े गये और

1. पश्चिमी भारत की यात्रा, पृ. 202

7000 खरड़े (rolls) या कुण्डली ग्रंथ वहाँ के पुजारी से खरीद कर उन्होंने ब्रिटिश म्यूजियम को भेज दिये।"[1] इसी क्रम में फ्रेंक फ्रेंसिस कहते हैं -

'He (Stein) purchased more than 7,000 paper rolls and sent them, back to the British Museum. Among them are 380 pieces bearing dates between A.D. 406 and 995. The most celebrated single item is a well preserved copy of the Diamond Sutra, printed from wooden blocks, with a date corresponding to 11 may, A.D. 868. This Scroll has been acclaimed as 'The world's oldest printed book', and it is indeed the earliest printed text complete with date known to exist"[2]

दुनिया की सबसे प्राचीन छपी पुस्तक का रहस्य इस प्रकार खुला। इस प्रकार पुस्तकों की सुरक्षा करने में लोग काफी रुचि दिखाते थे। मुनि पुण्यविजयजी[3] पुस्तकों और ज्ञान-भण्डारों के रक्षण की आवश्यकता के चार कारण मानते हैं—

(क) राजकीय उथल-पुथल (ख) वाचक की लापरवाही (ग) चूहे, कंसारी आदि जीव-जन्तु के आक्रमण (घ) बाह्य प्राकृतिक वातावरण।

(क) बाह्य आक्रमणों या आंतरिक राजकीय उथल-पुथल के कारण ग्रंथ भण्डारों को सुरक्षित रखने के लिए मन्दिरों में भूगर्भ स्थित गुप्त स्थान बनाये जाते थे। यद्यपि आशय तो आपातकाल में बड़ी मूर्तियों को सुरक्षित रखना ही था, किन्तु उनके साथ महत्वपूर्ण पाण्डुलिपियों को भी सुरक्षित रख दिया जाता था।

(ख) वाचक की लापरवाही से बचने के लिए उसे सुसंस्कारित किया जाता था, ताकि वह पुस्तकों के साथ प्रमाद न कर सके। इसके लिए उसमें ग्रंथ के प्रति पूज्यभाव एवं श्रद्धा के संस्कार का होना आवश्यक माना जाता था। यही कारण था कि लिखने-पढ़ने की किसी भी वस्तु को यदि वह कहीं अवांछित जगह गिरी हुई है तो उठा कर सिर से लगाकर पुनः सुरक्षित भाव से स्थापित किया जाता था या रखा जाता था। इसमें भी उस सामग्री की रक्षा की भावना ही

1. पाण्डुलिपि विज्ञान, पृ. 337
2. Treasurer of the British Museum, PP. 251
3. भारतीय जैन श्रमण संस्कृति अने लेखन कला, पृ. 109

प्रधान होती थी। पढ़ते समय स्वच्छ तन-मन से चौकी पर या टिखरी (सम्पुटिका) पर रख कर ग्रंथ को पढ़ा जाता था। पुस्तकों की सुरक्षा के लिए ही यह आदरभाव पैदा किया जाता था। इस विषय में मुनि पुण्यविजयजी कहते हैं –

''पुस्तकनुं अपमान थाइ नहीं, ते बगड़े नहीं, तेने चानु बने के उड़े नहीं, पुस्तक ने शर्दी गर्मी वगेरेनी असर न लागे ये मारे पुस्तक ने पाठांनि वचमा राखी तेने ऊपर कवुल्टी अने बंधन बीटानि तेने सांपड़ा ऊपर राखता। जे पाना वाचनमां चालू होय तेमने एक पाटी ऊपर मूंहकी, तेने हाथनो पासेवो ना लागे ये माटे पानू अने अंगुठानी वचमा काम्बी के छेवटे कागज ना टुकड़ो जे बुंकाई राखी ने वांचता। चौमासानी ऋतुमां शर्दी भरमा वातावरणों समयानां पुस्तन ने भेज न लागे अने ते चोंटीन जाय ये माटे खास वाचननों उपयोगी पाना ने बहार राखी वाकीनां पुस्तक ने कवली कपडुं वगैरे लपेटी न राखता।''[1]

उपर्युक्त कथन के कहने का अभिप्राय यह है कि ग्रंथ के वाचन-पठन के लिए टिखरी का प्रयोग पुस्तक रखने के लिए किया जाये। ग्रंथ के पन्ने खराब न हों इसके लिए काम्बी या पटरी जैसी वस्तु पंक्तियों के सहारे रखकर पढ़ी जायें, ताकि अँगुलियों के पसीने आदि से वे गंदी न हों। सर्दी-गर्मी से बचाने के लिए उन्हें कपड़े के बस्ते में बन्द करके रखा जाये। हो सके तो लकड़ी या लोहे की पेटी में रखा जाये। इस प्रकार ग्रंथ की सुरक्षा बढ़ेगी।

(ग) चूहे या कंसारी आदि कीटों से भी पुस्तकों को बचाना चाहिए। यह पाण्डुलिपियों के बहुत बड़े शत्रु होते हैं। शायद इसीलिए प्राचीन पाण्डुलिपियों के अन्त में निम्न प्रकार की हिदायतें दी जाती थीं –

''अग्ने रक्षेत् जलाद् रक्षेत्, मूषकेभ्यो विशेषतः।
कष्टेन लिखितं शास्त्रं, यत्नेन परिपालयेत्॥''
''उदकानिल चौरेभ्यो, मूषकेभ्यो हुताशनात्।
कष्टेन लिखितं शास्त्रं, यत्नेन परिपालयेत्॥''

अर्थात् ग्रंथ की जल, मिट्टी, हवा, आग, चोर और विशेषरूप से चूहों से रक्षा की जानी चाहिए। कंसारी आदि कीड़ों से ग्रंथों की रक्षा करने के लिए उनमें

1. भारतीय जैन श्रमण संस्कृति अने लेखन कला, पृ. 113

कपूर की गोलियाँ डालने की परम्परा थी। कुल मिलाकर पुस्तक को दोनों ओर से दबाकर पुट्ठों को पार्श्व में रखकर खूब कसकर बाँधकर रखना चाहिए ताकि कसारी आदि कीट उनमें नहीं घुस सकें। इसके अलावा पुस्तक को मूर्ख-हाथों से भी बचाना परमावश्यक है। 'सुभाषित रत्नभाण्डागारम्' में पुस्तक के विषय में कहा गया है –

''तैलाद् रक्षेज्जलाद् रक्षेद् रक्षेद् शिथिलबन्धनात्।
मूर्ख हस्ते न दातव्यं युवतीवच्च पुस्तकम्॥''

पुस्तक को तेल, जल और शिथिल बन्धन से रक्षा करनी चाहिए। साथ ही किसी युवती की तरह पुस्तक को मूर्ख के हाथ नहीं देना चाहिए। भाव स्पष्ट है।

इनके अलावा बाह्य प्राकृतिक वातावरण एवं जलवायु से भी ग्रंथों की रक्षा की जानी चाहिए। नमी एवं गर्मी से विशेष रूप से ग्रंथों को बचाने के प्रयास किये जाने चाहिए। इस संबंध में डॉ. सत्येन्द्रजी ने एक तालिका प्रस्तुत की है, जिसमें यह दर्शाने का प्रयास किया गया है कि पाण्डुलिपियों पर किसका, कैसा और क्या प्रभाव पड़ता है।

	जलवायु	वस्तु	प्रभाव
1.	गर्म और शुष्क	कागज, चमड़ा, पुट्ठा	तड़कने या सूखने लगता है।
2.	अधिक नमी	कागज	सीलन से सिकुड़ जाता है।
3.	तापमान में अत्यधिक विविधता	कागज, चमड़ा, पुट्ठा	लोच पर प्रभाव पड़ता है।
4.	तापमान 32° से. एवं नमी 70%	- - - - - -	कीड़े, मकोड़े, कंसारी, काकरोच, दीमक एवं फफूँद पैदा हो जाती है।
5.	वातावरण में अम्ल गैसों की उपस्थिति	कागज आदि	बुरा प्रभाव पड़ नष्ट हो जाती हैं।
6.	धूलकण	कागज, चमड़ा, पुट्ठा आदि	इससे अम्ल गैसों की घनता आती है और फफूँद पनपती है।
7.	सौधी धूप	कागज आदि	कागज और स्याही के रंग फीके हो जाते हैं।

1. प्राचीनकाल में पाण्डुलिपियों की सुरक्षा के उपाय

भारत में पाण्डुलिपियों की सुरक्षा में ब्राह्मणों और जैनों का विशेष योगदान रहा। जैन शास्त्रीय परम्परा में पाण्डुलिपियों की सुरक्षा के उपाय बताते हुए कहा गया है कि वे प्राय: सुरक्षात्मक दृष्टि से तहखानों में रखी जाती थीं। ग्रंथागार भण्डार की भी पूजा होती थी। ग्रंथागार में रखी पुस्तकों की एक विवरण सूची होती थी, जिससे यदाकदा मिलान कर देखा जाता था।

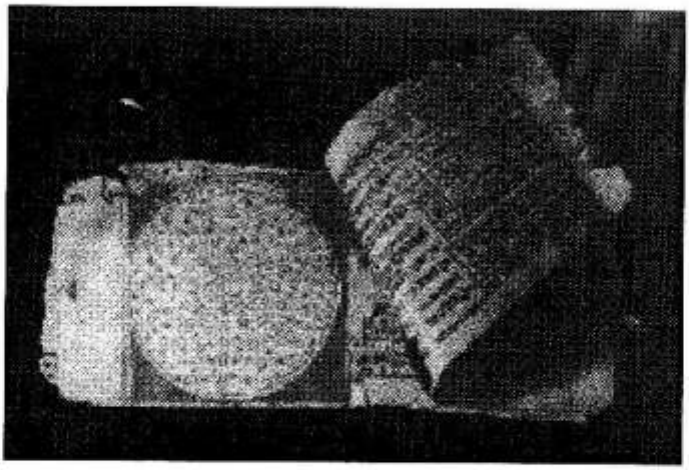

रख-रखाव की उपेक्षा की शिकार पाण्डुलिपि।

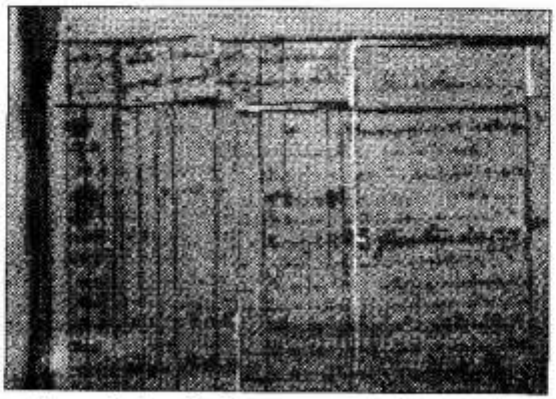

अम्लीय स्याही के प्रयोग के कारण यत्र-तत्र से फटा कागज एवं स्याही का रंग-परिवर्तन - प्राय: काले से भूरा।

पानों से प्रभावित पाण्डुलिपि का कागज जगह-जगह से टूटता है या चिपककर धब्बेदार बन जाता है।

जीर्ण-शीर्ण पाण्डुलिपि।

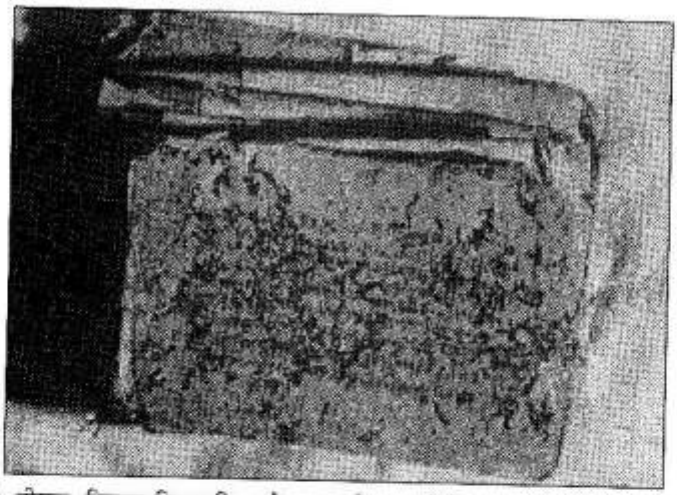

चूहे, दीमक, सिल्वर फिश, तिलचट्टे, बुक वीटल, कीड़ों द्वारा खाई हुई पाण्डुलिपि।

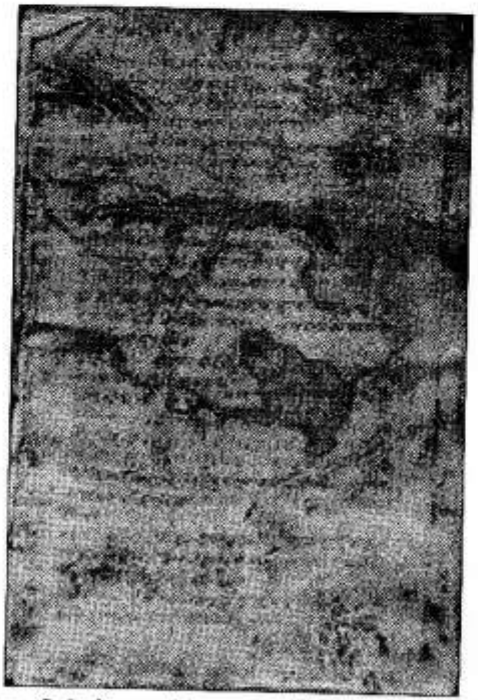

नमी के कारण पाण्डुलिपि के कागजों का आपस में चिपकना तथा फफूँद का प्रभाव।

चूहे और कंसारी आदि से बचाने के लिए ग्रंथों को संदूकों में रखा जाता था। संदूकों में पुस्तकों के कीड़े नहीं लगें यह सुनिश्चित करने के लिए कग्गार की लकड़ी का बुरादा भर दिया जाता था। इस संग्रह की रखवाली विश्वासपात्र लोगों के द्वारा की जाती थी। इस प्रकार कहा जा सकता है कि प्राचीन भारत में ग्रंथों की रक्षार्थ स्थान का चुनाव, आक्रमणकारी से बचाव के उपाय, रखरखाव में सावधानी तथा पूज्यभाव रखने की परम्परा थी। पाश्चात्य विचारक कूलर एवं बर्जेल का भी यही मत है। कूलर ने बताया है कि उसने गुजरात, राजपूताना, मराठा प्रदेश तथा उत्तरी एवं मध्य भारत में कुछ अव्यवस्थित संग्रहों के साथ ब्राह्मणों तथा जैनों के अधिकार में विद्यमान अत्यन्त ही सावधानी से सुरक्षित पुस्तकालयों को देखा है। अत: कहा जा सकता है कि प्राचीनकाल में ग्रंथ-रक्षा पर विशेष ध्यान दिया जाता था।

2. आधुनिक युग के वैज्ञानिक प्रयत्न

आज का युग विज्ञान का युग है। अत: पाण्डुलिपियों की सुरक्षा के लिए भी कई उपाए खोजे गए हैं। अभिलेखागारों, पाण्डुलिपि संग्रहालयों तथा अन्य संस्थाओं में अब नई तकनीक का उपयोग किया जाता है। ग्रंथ की माइक्रोफिल्म एवं फोटोस्टेट प्रति के द्वारा हम काफी नष्ट होती पाण्डुलिपियों को सुरक्षित रख सकते हैं। आज तो प्रत्येक अभिलेखागार या ग्रंथागारों में रख-रखाव पर विशेष ध्यान दिये जाने पर बल दिया जाता है। अनेक ऐसी संस्थाएँ भी कार्यक्षेत्र में हैं जो नष्ट प्राय: इस विरासत को बचाने के लिए प्रयत्नशील हैं। इण्डियन काउन्सिल ऑफ कन्जर्वेशन इन्स्टीट्यूट्स (इन्टेक) यू.के., एक ऐसी ही संस्था है। सामान्यत: ग्रंथागार के भवन का तापमान 22° और 25° से. के बीच रहना चाहिए तथा नमी 45% और 55% के बीच रखी जाए। आजकल तो वातानुकूलित विधि से सभी कुछ संभव है।

3. पाण्डुलिपियों के शत्रु

(1) भुकड़ी एवं फफूँद : भुकड़ी और फफूँद पाण्डुलिपियों के दो बड़े शत्रु हैं। अंग्रेजी में इन्हें क्रमश: Mould और Fungus कहते हैं। पाण्डुलिपियों में ये प्राय: 45° से. पर धीरे-धीरे बढ़ते हैं, लेकिन 27-35° से. पर ये बहुत तेजी से बढ़ते हैं। इन्हें रोकने या नष्ट करने के लिए ग्रंथागार भवन का तापमान 30°

से. से अधिक होना चाहिए। साथ ही नमी 45-55 प्र.श. के बीच रहनी चाहिए। यदि तापमान और नमी को अनुकूल नहीं रखा जा रहा हो तो थाईमल रसायन से वाष्प चिकित्सा (Fumigation) करना चाहिए।

(2) कीड़े-मकोड़े : ये दो प्रकार के होते हैं। प्रथम प्रकार का काकरोच पाण्डुलिपि के ऊपरी भाग – जिल्द, चमड़े, पुट्ठे को क्षति पहुँचाता है और दूसरा रजत कीट (Silver fish) एक छोटा, पतला, चाँदी सा चमकीला कीड़ा होता है, जो पाण्डुलिपि को बाहर से क्षति पहुँचाता है। इनसे पाण्डुलिपि की रक्षा करनी चाहिए। हो सके वहाँ तक ग्रंथागार में कोई खाने-पीने की वस्तु नहीं रखें। इसके बाद ग्रंथों की अलमारी एवं आस-पास छिद्रों में सावधानीपूर्वक डी.डी.टी., पाट्रोल्यम, सोडियम क्लोराइड, नेफ्थलीन की गोलियाँ आदि का छिड़काव करना चाहिए। अँधेरे कोनों, दरारों, छिद्रों, दीवारों आदि पर छिड़काव ठीक रहता है। ग्रंथ पर छिड़कने से धब्बे पड़ने का डर रहता है।

दूसरी प्रकार के कीट ग्रंथ को भीतर से क्षति पहुँचाते हैं। ये भी दो प्रकार के होते हैं – 1. पुस्तक कीट (Book worm) 2. सोसिड (Psocid)। इनमें चुक वर्म के लारवे तो ग्रंथ के पन्नों में ऊपर से लेकर नीचे तक आर-पार छेद कर देते हैं और अंदर-अंदर गुफाएँ बनाकर पाण्डुलिपि को नष्ट कर देते हैं। यही लारवा उड़कर दूसरी पुस्तकों पर कीटों को जन्म दे देता है। सोसिड, पुस्तकों की जूँ होती है। यह पुस्तक को भीतर ही भीतर क्षति पहुँचाती है। इनसे मुक्ति पाने के लिए घातक गैसों की वाष्प चिकित्सा की जानी चाहिए। ये गैसें हैं – एथीलीन ऑक्साइड एवं कार्बनडाइ आक्साइड मिलाकर वातशून्य वाष्पन करना चाहिए। और भी अनेक वैज्ञानिक विधियाँ उपलब्ध हो सकती हैं।

(3) दीमक : ऊपर वर्णित कीटों में दीमक सर्वशक्तिमान हानिकारक कीड़ा है। इसका घर भूगर्भ में होकर मकानों की छतों, लकड़ी, कागज आदि व्यापक होता है। दीमक पाण्डुलिपियों की बहुत बड़ी शत्रु है। यह भीतर ही भीतर पाण्डुलिपि को खाकर नष्ट कर देती है। इससे भण्डारगृह की रक्षा करने के जहाँ जहाँ दीमक के द्वारा बनाई गई सुरंग हो वहाँ तारकोल या क्रियोसोट तेल डाल देना चाहिए। साथ ही डी.डी.टी. का घोल भी छिड़का जा सकता है। पाण्डुलिपियों की दीमक से सुरक्षा का कारगर उपाय धातु-निर्मित अलमारी हो

सकती है। ग्रंथागार के भण्डार के आसपास सफाई रहनी चाहिए। धूम्रपान नहीं होना चाहिए। साथ ही हो सके तो आग बुझाने का यंत्र भी पास ही होना चाहिए।

(4) चूहा : ग्रंथ भण्डारगृह में चूहों का प्रवेश नहीं होना चाहिए। चूहेदानी जगह-जगह लगाकर रखनी चाहिए। भण्डारगृह की नालियाँ, छेद, खिड़की, दरवाजों की जालियाँ आदि बंद होनी चाहिए। अन्यथा पुराना चूहा जायेगा तो नया आ जायेगा। खाने-पीने की कोई वस्तु नहीं रहनी चाहिए।

कहने का अभिप्राय यह है कि पाण्डुलिपि को नष्ट होने से बचाने के लिए उसकी धूल, मिट्टी और नमी से सुरक्षा होनी चाहिए। कीड़े एवं चूहों से भी बचाना चाहिए। दीमक-काकरोच-बुकवर्म इन सभी से पाण्डुलिपि को सुरक्षित रखना आवश्यक है। इन शत्रुओं पर सदैव निगाह रखनी चाहिए।

4. पाण्डुलिपि की उचित देखभाल

पाण्डुलिपि को शत्रुओं से बचाने के साथ उसकी उचित देखभाल भी रख-रखाव के अन्तर्गत ही आती है। जिस प्रकार नवजात शिशु को सर्दी-गर्मी से बचाने के प्रयत्न किये जाते हैं उसी प्रकार एक पाण्डुलिपि की देखभाल भी करनी चाहिए। जब पाण्डुलिपियाँ कहीं से प्राप्त होती हैं तो उनमें से अनेक की दशा

पाण्डुलिपि का उचित रख-रखाव एवं भण्डारण।

अनेक विकृतियों से युक्त होती हैं। जैसे - किसी पाण्डुलिपि के पत्र मुड़े-तुड़े एवं सलवटयुक्त होते हैं, किसी के कोने कटे-फटे होते हैं, किसी के कागज जीर्ण-शीर्ण या तड़कने वाले हैं, किसी के कागज भीगे हुए हैं, किसी के पन्ने चिपके हुए हैं, किसी का लेख धुँधला पड़ गया है या अन्य विकृतियाँ हो सकती हैं। ऐसी अवस्था में उन पाण्डुलिपियों को तात्कालिक उपचार की आवश्यकता होती है। आजकल विकृत या रुग्ण पाण्डुलिपियों की मरम्मत या चिकित्सा हेतु अनेक वैज्ञानिक प्रयोगशालाएँ खुल गई हैं, किन्तु अपने स्तर पर भी यदि चिकित्सा की जाये तो निम्नलिखित सामग्री का होना आवश्यक है -

(1) साधन-सामग्री

1. शीशे युक्त एक मेज, 2. दाब देने के लिए छोटा हाथ प्रेस, 3. कैंची, 4. चाकू, 5. प्याले, 6. तश्तरियाँ, 7. ब्रुश, 8. फुटा, 9. छोटी-बड़ी दो सुइयाँ, 10. छेद करने के लिए बोदकिन, 11. शीशे की प्लेटें, 12. लेही बनाने हेतु पतीली, 13. बिजली की प्रेस।

(2) मरम्मत या चिकित्सा सामग्री

1. हाथ का बना कागज, 2. ऊलि (टिशू) पत्र, 3. शिफन, 4. मोमी या तेल कागज, 5. मलमल, 6. लंकलाट (Long cloth) , 7. सैल्यूलोज एसीटेट पायल - लेमीनेशन हो।

इस सामग्री के बाद थोड़ा प्रशिक्षण प्राप्त व्यक्ति पाण्डुलिपियों का उपचार आसानी से कर सकता है। जैसे - पाण्डुलिपि पत्र के किनारे मुड़े-तुड़े हैं तो उन्हें चौरस करना, पूर्ण पृष्ठ वर्णन चिकित्सा, शिफन चिकित्सा, टिश्यू चिकित्सा, परलोपचार या लेमीनेशन, पानी से भीगी पाण्डुलिपि का उपचार, कागज को अम्ल रहित करना, अमोनिया गैस का उपचार, ताड़पत्र एवं भोजपत्र की पाण्डुलिपियों के उपचार करना आदि। इस संदर्भ में बहुत से ग्रंथ भी लिखे गये हैं। उनका अध्ययन सहायक सिद्ध होगा।

इस प्रकार पाण्डुलिपिविज्ञान के विद्यार्थी को प्रारंभिक ज्ञान देने के लक्ष्य को ध्यान में रखकर हमने यहाँ कुछ मोटी-मोटी बातों का उल्लेख किया है। आज 'रखरखाव' को ध्यान में रखते हुए बड़ी-बड़ी प्रयोगशालाएँ बन गई हैं। ❑